इकाई 1 अर्थव्यवस्था, समाज और शासन व्यवस्था में औपनिवेशिक हस्तक्षेप

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 उपनिवेशवाद के चरण
  1.2.1 प्रथम चरण : व्यापार एकाधिकार और राजस्व चोरी का काल
  1.2.2 द्वितीय चरण : व्यापार द्वारा शोषण का काल
  1.2.3 तृतीय चरण : विदेशी निवेश और उपनिवेशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा का काल
1.3 भारतीय समाज में औपनिवेशिक हस्तक्षेप
  1.3.1 सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप
  1.3.2 अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप
  1.3.3 शासन व्यवस्था में हस्तक्षेप
1.4 सारांश
1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ पाएंगे :

- उपनिवेशवाद का अर्थ और प्रकृति,
- विश्व में विभिन्न चरणों में इसका विकास, और
- भारतीय समाज में इसके हस्तक्षेप का प्रसार और प्रकृति।

1.1 प्रस्तावना

उपनिवेशवाद शब्द से तो आप परिचित हैं लेकिन इसके पूर्ण प्रभावों को प्रायः या तो छोड़ दिया जाता है, या गलत समझा जाता है या फिर अधूरे रूप में ही समझा जाता है। उपनिवेशवाद शब्द का आशय प्रायः या तो एक देश पर किसी अन्य देश के मात्र राजनीतिक नियंत्रण से लिया जाता है या फिर कुछ लोग तो भारत में अंग्रेजी शासन के विस्तार को ही इसका पर्याय समझ लेते हैं।

लेकिन आपको यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि एक देश पर किसी अन्य देश का राजनीतिक नियंत्रण या भारत में अंग्रेजी शासन उपनिवेशवाद के घटक मात्र है और केवल ये ही उपनिवेशवाद के सार तत्व नहीं है। वस्तुतः उपनिवेशवाद एक बहुत ही व्यापक अवधारणा है। उपनिवेशवाद को परिभाषित करने से पहले हमें दो बातें याद रखना आवश्यक है—

1) उपनिवेशवाद को विश्वव्यापी अवधारणा के रूप में देखा जाना चाहिए। इसमें कई देश भिन्न-भिन्न क्षमता में सम्मिलित थे। उदाहरण के लिए, जहाँ एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरीका के देश उपनिवेश के रूप में इसके शिकार रहे, तो वहीं फ्रांस, ब्रिटेन, हॉलैंड, स्पेन, पुर्तगाल आदि यूरोपीय देश औपनिवेश शक्तियों के रूप में लाभान्वित रहे थे। उपनिवेशवाद ने इन्हीं यूरोपीय राष्ट्रों के हितों का पोषण किया।

2) उपनिवेशवाद को एक संरचना के रूप में देखा जाना चाहिए जिसमें राजनीतिक नियंत्रण शामिल है। जब हम उपनिवेशवाद को संरचना के रूप में देखने की बात करते हैं तो औपनिवेशिक शक्तियों के हितों, नीतियों, कार्यों, आधुनिकीकरण के विभिन्न कदमों, नई शिक्षा प्रणाली, अंग्रेजी भाषा पर जोर विचार और विचारधारा आदि सभी को परस्पर संबद्ध करके देखना चाहिए क्योंकि ये सभी एक ही सुनियोजित रणनीति के ताने-बाने हैं।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि उपनिवेशवाद आवश्यक रूप से उपनिवेष (उदाहरण के लिए भारत) और औपनिवेशिक राष्ट्र (उदाहरण के लिए इंगलैंड) की अर्थव्यवस्था का व्यापार और वाणिज्य के द्वारा एकीकरण है। इसके एकीकरण का लक्ष्य जहाँ तक हो सके औपनिवेशिक शक्ति के हितों की अभिवृद्धि करना है। यह उपनिवेश की अर्थव्यस्था को औपनिवेशिक शक्ति की अर्थव्यवस्था का पूर्णतया अधीनस्थ बना देता है।

अब हमें उपनिवेशवाद की प्रमुख विशेषताओं पर दृष्टिपात करना चाहिए:

- विशेष रूप में उपनिवेशवाद दो देशों के बीच संबंध है–शासक और शासित का संबंध; एक देश द्वारा दूसरे देश पर राजनीतिक नियंत्रण का संबंध।
- इस राजनीतिक नियंत्रण का उद्देश्य उपनिवेश को अपने अधीन रखना और उपनिवेश की अर्थव्यवस्था पर अपना नियंत्रण बनाए रखना है।
- यह अधीनीकरण मुख्यतया व्यापार और वाणिज्य के द्वारा होता है।
- यह अधीनीकरण अर्थव्यवस्था तक ही सीमित नहीं रहता है, बल्कि समाज के सभी क्षेत्रों को यह अपनी परिधि में समेट लेता है।
- अर्थव्यवस्था, समाज, शासन व्यवस्था, संस्कृति, संस्थाओं विचारों और लोगों के दिमागों तक फैला यह अधीनीकरण स्थाई नहीं होता बल्कि एक प्रक्रिया है जो विभिन्न चरणों में फैलती चली जाती है। भारत की ही तरह एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशों में ऐतिहासिक रूप से यह उपनिवेशवाद तीन भिन्न-भिन्न चरणों से गुजरा। प्रत्येक चरण में अधीनीकरण का एक भिन्न स्वरूप रहा और जिसका प्रभाव उपनिवेशवाद की अर्थव्यवस्था, समाज, और शासन व्यवस्था पर भिन्न-भिन्न रहा। औपनिवेशिक राष्ट्र की स्वयं की अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीतिक परिवर्तनों द्वारा ही ये परिवर्तन आये।

उपनिवेशवाद को व्यापक रूप से समझ लेने के बाद अब हमें इसके तीन चरणों पर दृष्टिप्रात करना चाहिए।

1.2 उपनिवेशवाद के चरण

उपनिवेशवाद के चरणों के संबंध में कुछ बातें याद रखनी चाहिए:

- औपनिवेशिक सत्ता द्वारा उपनिवेश के अधिशेश (Surplus Appropriation) की चोरी करना उपनिवेशवाद का केंद्रीय तत्व था। प्रत्येक चरण को अधिशेष की चोरी के नये तरीके के आधार पर वर्गीकृत किया गया। जैसे जैसे उपनिवेशवाद पल्लवित होता गया और एक चरण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया तो अगले चरण के लिए अधिशेष चोरी के नये तरीके विकसित होते गये।
- किन्हीं दो चरणों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। यदि एक चरण की समाप्ति के बाद उपनिवेशवाद अगले चरण में पहुँचा तो पहले वाले चरण की विशेषताएँ उसमें भी विद्यमान रही। लेकिन इसके साथ-साथ दूसरे चरण की कुछ विशेषताएँ अवश्य थी जो उसे पहले चरण से अलग करती थी।
- अलग-अलग ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण अधिशेष चोरी का जो स्वरूप एक उपनिवेश में प्रमुख था, कोई जरूरी नहीं कि दूसरे उपनिवेश में भी वही स्वरूप रहा हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं था कि उपनिवेशवाद के सभी चरण सभी उपनिवेशों में एक ही स्वरूप में विद्यमान रहे हों। इसलिए तीसरा चरण (जिसके बारे में आप इस अध्याय के उपभाग 1.2.3 में पढ़ेंगे) भारत में क्षीण था, दूसरा चरण (जिसके बारे में आप उपभाग 1.2.2 में जानेंगे) इंडोनेशिया में क्षीण था और पहले और दूसरे चरण (उपभाग 1.2.1 व 1.2.2) मिस्र में क्षीण रहे थे।

अब हमें उपनिवेशवाद के चरणों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं पर दृष्टिपात करना चाहिए।

1.2.1 प्रथम चरण : व्यापार एकाधिकार और राजस्व चोरी का काल

प्रथम चरण में उपनिवेशवाद के मूल उद्देश्य इस प्रकार थे:

1) अन्य यूरोपीय व्यापारियों की तुलना में उपनिवेश के व्यापारियों और उत्पादकों पर

एकाधिकार स्थापित करना। इसके अलावा, जब भी हथकरघा में काम करने वालों या उत्पादकों को औपनिवेश राज्य द्वारा नौकरी पर रखा जाता था, उनमें अधिशेष को इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से नहीं हड़पा जाता था जैसे, औद्योगिक पूँजीपति करते थे। बल्कि व्यापारी शोषक के रूप में करते थे।

2) राज्य शक्ति का प्रयोग करके अधिशेष या राजस्व की सीधी चोरी करना होता था औपनिवेशिक राज्य को अपने उपनिवेश को अपने अधिकार में बनाए रखने के लिए विपुल आर्थिक संसाधनों की जरूरत पड़ती थी, जैसा सेना, किले, हथियार आदि की व्यवस्था करना। इसके अतिरिक्त उपनिवेश के अधिशेष की सीधी चोरी करने के लिए वित्तीय आवश्यकताएँ भी होती थी। चूँकि उपनिवेश तो औपनिवेशक देश से ज्यादा आयात नहीं करते थे और औपनिवेशिक देश को उपनिवेश के माल को खरीदना पड़ता था तो ऐसी स्थिति में औपनिवेशिक राष्ट्र को अधिक वित्त की जरूरत पड़ती थी। इस प्रकार प्रत्यक्ष चोरी किया हुआ अधिशेष औपनिवेशिक देश के व्यापारियों, निगमों और लेन-देन कर्ताओं के लाभ का एक स्रोत था। उपनिवेश में कार्यरत अधिसंख्यक यूरोपीय लोगों ने भी ऊँचे वेतन, रिश्वत आदि के रूप में उपनिवेश के वित्तीय संसाधनों के बहुत बड़े भाग की चोरी की थी।

यहाँ यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि (1) उपनिवेशवाद के इस चरण के दौरान अधिशेष की लूटपाट और प्रत्यक्ष चोरी करने वाले तत्व काफी शक्तिशाली थे, और (2) औपनिवेशिक उत्पादकों का कोई महत्वपूर्ण माल उपनिवेश में आयात नहीं होता था।

इस काल के दौरान औपनिवेशिक शासन की मूल विशेषता यह रही कि उपनिवेश में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं लाया गया। जैसे प्रशासन, न्याय व्यवस्था, परिवहन और संचार, कृषि और औद्योगिक उत्पादनों के तरीकों, वित्तीय संगठन या व्यावसायिक प्रबंधन के स्वरूप, शिक्षा और बौद्धिक क्षेत्र, संस्कृति और सामाजिक संगठनों आदि में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। केवल सैन्य संगठन और तकनीकी में परिवर्तन किया गया क्योंकि उपनिवेश में समकालीन स्वतंत्र सरदार और शासक इस प्रकार के परिवर्तन के लिए प्रयास कर रहे थे। राजस्व संग्रह को अधिक प्रभावी बनाने के लिए प्रशासन के शीर्ष ढाँचे में भी बदलाव लाया गया।

ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि जिन तरीकों से औपनिवेशिक सत्ता उपनिवेश के अधिशेष की चोरी कर रही थी, उनके लिए उपनिवेश में कोई आधारभूत सामाजिक-आर्थिक और प्रशासनिक परिवर्तनों की जरूरत नहीं थी। वैसे भी औपनिवेशिक शासक गाँवों तक घुसने की आवश्यकता महसूस नहीं करते थे।

1.2.2 द्वितीय चरण : व्यापार द्वारा शोषण का काल

उस समय औपनिवेशिक राष्ट्रों में नवोदित औद्योगिक और व्यावसायिक हितों में उपनिवेशों के शोषण करने के तत्कालीन तरीके को अस्वीकृत किया और शोषण को अपने हितों की सिद्धि के अनुकूल बनाने की आवश्यकता महसूस की। इस समय उपनिवेशों पर नियंत्रण एक लंबी अवधि तक चलने वाली अवधारणा बन गई थी तो औपनिवेशिक राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग ने सम्मिलित रूप से अधिशेष चोरी के स्वरूपों की माँग की। यह वर्ग इस स्वर्णिम अवसर को हाथ से नहीं निकलने देना चाहता था। यह माना गया कि इस वर्ग के लाभ के लिए लूटपाट का तरीका पुनर्उत्पादन की स्थितियों के सृजन के अन्य तरीकों से अपेक्षाकृत कम सक्षम था।

औद्योगिक बुर्जुवा वर्ग इस बात से संतुष्ट था कि उपनिवेश में उनके द्वारा उत्पादित माल की खपत दिनों दिन बढ़ती जा रही थी। इसके लिए उपनिवेश के निर्यात को बढ़ाने की आवश्यकता महसूस की गई। इसके वैसे भी कई कारण थे (1) यदि उपनिवेश अपना निर्यात बढ़ाता तो वह और अधिक आयात खरीद सकता था। इसमें उपनिवेशि को लाभ कृषिगत और खनिज उत्पादों से ही हो सकता था। उपनिवेश के निर्यात से एक तो संपदा का निकास हो सकता था, दूसरे व्यावसायिक लाभ अर्जित करने व उपनिवेश में कार्यरत यूरोपीय को पेंशन इत्यादि देने के लिए विदेशी मुद्रा मिल सकती थी। (2) मैट्रोपोलिस कच्चे माल और खाद्यान्न के लिए साम्राज्य से बाहर निर्भर होना चाहते थे। इसलिए उपनिवेश में कच्चे माल के उत्पादन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। औपनिवेशिक शासक उपनिवेश को इस प्रकार का बना सकते थे। अतः उपनिवेश को कृषिगत और खनिज संपदा के क्षेत्र में एक पुनर्उत्पादक उपनिवेश के रूप में विकसित

किया जाना साम्राज्यवादियों के लिए आवश्यक बन गया था (3) एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुपूरक के रूप में उपनिवेश को इस प्रकार इस्तेमाल किया जा सकता था कि वह उसके तैयार माल के लिए बाजार भी बन जाए और कच्चा माल का भंडार भी बन जाए।

इस प्रकार उपनिवेशवाद के दूसरे चरण का सार इसमें है कि यह उपनिवेश को व्यवसाय में ऐसा अधीनस्थ सहभागी बनाता था जो कच्चा माल निर्यात करे और उत्पादों का आयात करें। इसके साथ-साथ महँगे दाम पर माल बेचने और सस्ते दाम पर खरीदने के व्यापार द्वारा भी उपनिवेश के अधिशेष की चोरी की गयी। उपनिवेशवाद के इस चरण से वे देश भी नहीं बच सके जो राजनीतिक रूप से स्वतंत्र थे।

उपनिवेश के तत्कालीन आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक ढाँचे के तहत तो इस चरण में उसका शोषण नहीं किया जा सकता था। इसलिए इस संरचना को इस प्रकार परिवर्तित करना था कि उससे औपनिवेशिक हितों की अभिवृद्धि हो सके। यह पुनर्गठन विकास और आधुनिकीकरण के नाम पर किया गया। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में उपनिवेश की अर्थव्यवस्था का विश्व पूँजीवादी अर्थव्यस्था से इस प्रकार एकीकरण किया गया जिससे औपनिवेशिक शक्ति को लाभ पहुँचे। इस एकीकरण के लिए उपनिवेश में विदेशी व्यापार को स्वतंत्र बना दिया गया। यह स्वतंत्रता विशेष रूप से औपनिवेशिक राष्ट्र के हितों को मद्देनजर रखकर दी गयी। इसके परिणामस्वरूप इस काल में उपनिवेश औपनिवेशिक राष्ट्र से भी अधिक स्वतंत्र व्यापार वाले देश में तब्दील हो गया। औपनिवेशिक पूँजीपतियों को उपनिवेश में कारखाने लगाने, व्यापार करने, परिवहन और खनन के क्षेत्र में कार्य करने की खुली छूट दे दी गयी। कुछ मामलों में यह छूट उद्योग स्थापित करने के लिए भी दी गयी। औपनिवेशिक राष्ट्र ने इन पूँजीपतियों को सक्रिय रूप से आर्थिक और अन्य प्रकार की सहायता दी जबकि स्वयं उनके देश में अहस्तक्षेप के सिद्धांत का बोलबाला था। कृषि संबंधी संरचना में परिवर्तन इस उद्देश्य से किए गये जिससे वहाँ पूँजीवादी खेती की शुरुआत करके उपनिवेश को एक पुनर्उत्पादन देश में बदल दिया गया। ठीक इसी प्रकार परिवहन और संचार व्यवस्था को उन्नत बनाने के भी प्रयास किए गये।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रशासन के क्षेत्र में किए गये। औपनिवेशिक राष्ट्र के तैयार माल को बेचने के लिए और इसके लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने के लिए गाँवों और कस्बों के अंदर तक पहुँचना आवश्यक था और इसके लिए औपनिवेशिक प्रशासन को अधिक व्यापक और विस्तृत बनाया गया। उपनिवेश का कानून व्यवस्था को तो पूरी ही तरह ही परिवर्तित कर दिया गया था। इस समय उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में पश्चिमी पूँजीवादी कानूनी और न्याय व्यवस्था लागू कर दी गयी। ये परिवर्तन अपराधिक विधि, संविदा विधि और नागरिक विधि प्रक्रिया से ही संबंधित रहे। विवाह और वसीयत सहित वैयक्तिक कानून इन परिवर्तनों की परिधि से बाहर ही रहे।

नये विस्तृत और व्यापक प्रशासनिक तंत्र की जरूरत को देखते हुए आधुनिक शिक्षा की भी शुरुआत की गयी। लेकिन आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य उपनिवेश के समाज और संस्कृति को भी परिवर्तित करना था।

उपनिवेशवाद के इस दूसरे चरण में एक उदार साम्राज्यवादी राजनीतिक विचारधारा तथा साम्राज्यवादी राजनेताओं और प्रशासकों के ऐसे वर्ग अस्तित्व में आए जो उपनिवेश के लोगों को लोकतंत्र और स्व-शासन की कला में प्रशिक्षित करने की बात करते थे। उस समय यह विश्वास किया जाता था कि यदि उपनिवेश के लोग कानून और व्यवस्था के सदगुणों, व्यापारिक संविदाओं की बाध्यता, स्वतंत्र व्यापार और आर्थिक विकास आदि को सीख लेते तो औपनिवेशिक राष्ट्र द्वारा उपनिवेश से अपना प्रत्यक्ष राजनीतिक और प्रशासनिक नियंत्रण हटा लेने के बाद भी उपनिवेशवाद के आर्थिक हितों का निर्वाह हो सकता था।

यहाँ इस एक पहलू पर ध्यान देना आवश्यक है: औपनिवेशिक सत्ताधारियों ने उपनिवेश का अर्द्ध-विकास जान बूझकर नहीं किया। इसके विपरीत, उनके सभी प्रयास उपनिवेश व इस प्रकार विकसित करने पर केंद्रित थे कि वह औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के अधीनस्थ रूप में उसका सहायक हो सके। वस्तुतः अर्द्ध-विकास किसी की इच्छा के परिणामस्वरूप नहीं हुआ बल्कि यह तो व्यापार के उपनिवेशवाद की कठोर कार्यप्रणाली और उसकी आंतरिक विसंगतियों के न टाले जा सकने वाले प्रभाव के रूप में सामने आया।

अधिशेष निकासी के पूर्व के तरीके इस चरण में भी जारी रहे और इनकी कार्यप्रणाली का महाजाल बन गये। इसके साथ-साथ, उपनिवेश को तो अपनी पुनर्संरचना की कीमत चुकानी पड़ी, उपनिवेश के किसानों पर और भार डाल दिया गया।

1.2.3 तृतीय चरण : विदेशी निवेश और उपनिवेशों के लिए अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा का काल

विश्वअर्थव्यवस्था में कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उपनिवेशवाद में एक नया चरण आया :

- कई यूरोपीय देशों, उत्तरी अमेरिका और जापान में औद्योगिकरण का प्रसार,
- उद्योगों में वैज्ञानिक ज्ञान के प्रयोग का परिणामस्वरूप औद्योगिकरण की रफ्तार का तेज होना, और
- अंतर्राष्ट्रीय परिवहन के साधनों में क्रांति के कारण विश्व बाजार का और अधिक एकीकरण हो जाना। अब नये, सुरक्षित और एकाधिकारी बाजार के लिए सघन संघर्ष शुरू हो गया था। यह संघर्ष कृषि और कच्चे खनिजों तथा खाद्यान्नों के स्रोतों को ढूँढ़ने के लिए भी था। इन सबके अलावा घर में पुनर्उत्पादन के विस्तार और उपनिवेशों व अर्द्ध उपनिवेशों के शोषण के बढ़ने से विकसित पूँजीवादी देशों में पूँजी का विपुल संचय हो गया। इसके साथ-साथ कई देशों में पूँजी की ओर ध्यान केंद्रित होने लगा तथा बैंक की पूँजी का औद्योगिक पूँजी के साथ विलीनीकरण हुआ। इसके परिणामस्वरूप पूँजी का बड़े पैमाने पर निर्यात हुआ और पूँजी निवेश के लिए एकाधिकारी क्षेत्रों की खोज आरंभ हुई। अब बाजार, कच्चे माल के स्रोत और पूँजी निर्यात—तीनों पहलू एक दूसरे से परस्पर संबद्ध हो गये थे। साम्राज्यवादी राष्ट्रों के बीच विश्व के विभाजन और पुनर्विभाजन का संघर्ष तीव्र हो गया और पुराने उपनिवेशों को नये तरीके से इस्तेमाल किया जाने लगा। उनके सामाजिक अधिशेष और मानवशक्ति को इस संघर्ष में मुकाबले के लिए प्रयुक्त किया जा सकता था। उपनिवेशवाद ने इस चरण में औपनिवेशिक राष्ट्रों के महत्वपूर्ण राजनीतिक और वैचारिक उद्देश्यों का पोषण किया। राष्ट्रवाद, साहस और साम्राज्य के महिमामंडन और औपनिवेशिक शक्ति अपने राष्ट्र में उभरते सामाजिक मतभेदों को शांत करने के लिए इस्तेमाल कर सकती थी। यह कार्य साम्राज्य के साझा हितों के नाम पर बड़ी आसानी से किया जा सकता था। विशेष रूप से, लोकप्रिय प्रजातंत्र के विकास और व्यस्क मताधिकार लागू किए जाने का मुकाबला करने के लिए साम्राज्य और भव्यता का सहारा लिया जा सकता था क्योंकि ये पूँजपति वर्ग के राजनीतिक आधिपत्य के लिए एक खतरा बन सकती थी और इसने समाज पर आधिपत्य के वैचारिक तंत्र का महत्व बढ़ा दिया। इस आधिपत्य में साम्राज्य के विचारों ने बढ़ती हुई महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

उपनिवेश प्राप्ति के आरंभिक चरण में उन पर औपनिवेशिक नियंत्रण को सुदृढ़ बनाने के लिए कठिनतम प्रयत्न किए गये। शुरुआती दौर की उदार साम्राज्यवादी नीतियों का स्थान अब प्रतिगामी साम्राज्यवादी नीतियों ने ले लिया। औपनिवेशिक शासन को स्थायी बनाने को अब भी कीमत पर आवश्यक माना गया। लेकिन यह विशेष रूप से औपनिवेशिक पूँजी को आकृष्ट करने और उसे सुरक्षा प्रदान करने के लिए था।

एक बार फिर, पूर्व प्रचलित अधिशेष चोरी के तरीके इस चरण में भी बने रहे। वास्तव में, कुछ उपनिवेशों में (उदाहरण के लिए भारत) अधिशेष चोरी के पहले वाले तरीके तीसरे से अधिक महत्वपूर्ण बने रहे।

राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से उपनिवेशवाद के तीसरे चरण का तात्पर्य उपनिवेश पर नियंत्रण को और अधिक सुदृढ़ बनाने से था। इस चरण में उपनिवेश के प्रत्येक बंदरगाह, कस्बे और गाँव को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ दिया गया। प्रशासन जब अधिक नौकरशाही, नदी विस्तृत और प्रभावी बना दिया गया था। उपनिवेशवाद की विचारधारा में अब एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। अब उपनिवेश के लोगों को स्वतंत्रता के लिए प्रशिक्षित किए जाने की बात दफन हो गई और उपनिवेश विरोधी आंदोलनों के बढ़ते दबाव के कारण ही बाद में पुनर्जीवित हुई। इसके स्थान पर परोपकारी निरंकुशता की बात की जाने लगी जिसके अनुसार उपनिवेश के लोगों की स्थायी अपरिपक्वता के कारण उन पर

स्थायी ट्रस्टीशिप लागू रखने की बात कही गयी। उपनिवेश के लोगों की भौगोलिक स्थिति, वंश, जलवायु, इतिहास, सामाजिक संगठन, संस्कृति और धर्म को ऐसे कारणों में गिनाया गया जिनके कारण ये लोग स्वशासन के लिए स्थायी रूप से अयोग्य समझे जाते थे। इस तरह का विचार उपनिवेशवाद के द्वितीय चरण के उस विचार का उल्टा था जिसमें कहा गया था कि उपनिवेश के लोगों को भी प्रशिक्षित और शिक्षित करके यूरोपीय लोगों के समान बनाया जा सकता है।

इस चरण में भी तुच्छ उद्देश्यों से उपनिवेश की अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति को पुनर्संगठित करने की प्रक्रिया जारी रही। हालाँकि सामाजिक और सांस्कृतिक आधुनिकीकरण को प्रतिबंधित करने की प्रवृत्ति अवश्य विकसित हुई। औपनिवेशिक प्रशासन अब सामाजिक और सांस्कृतिक प्रश्नों के संबंध में तटस्थता का अवलंबन करने लगा था और स्वदेशी संस्थाओं और विचारों के संरक्षण के नाम पर उठने वाले सामाजिक और सांस्कृतिक विरोधी आंदोलनों का समर्थन करने लगा था।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित कथनों को ध्यान से पढ़िए और सही/गलत का निशान लगाइए।
   i) उपनिवेशवाद से तात्पर्य उपनिवेश की अर्थव्यवस्था के औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण से है।
   ii) उपनिवेश के अधिशेष की चोरी करना उपनिवेशवाद का केंद्रीय उद्देश्य था।
   iii) उपनिवेशवाद के प्रथम चरण में उपनिवेश में बहुत ही मूलभूत परिवर्तन किए गए।
   iv) सभी उपनिवेश उपनिवेशवाद के सभी चरणों से एक साथ गुजरे।
2) पाँच पंक्तियों में उन प्रमुख घटनाओं का ब्यौरा दीजिए जो औपनिवेशिक शासन के तृतीय चरण के लिए जिम्मेदार थी–

.....

.....

.....

.....

.....

1.3 भारतीय समाज में औपनिवेशिक हस्तक्षेप

अब हमें उपनिवेशवाद के उस प्रभाव पर दृष्टिपात करना चाहिए जो उसने भारतीय जीवन के विविध पहलुओं और लोगों पर छोड़ा। भारतीय अर्थव्यवस्था क्रमशः सामान्य रूप से विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और विशेष रूप से ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था से संबद्ध हो गयी थी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद भारतीय समाज के भी प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश कर गया था। आइए इस हस्तक्षेप की प्रकृति और विषयवस्तु को देखें।

1.3.1 सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप

भारत अंग्रेजी राज के कारण पश्चिमी जगत के संपर्क में आया जिसके परिणामस्वरूप जो विचार पश्चिमी यूरोप में विकसित हुए थे, उनका भारत में भी प्रवेश हुआ। व्यापार और यात्रा के जरिए भारत का न केवल एशिया बल्कि यूरोप के देशों से सदियों पुराना संबंध रहा। इस तरह के स्रोतों द्वारा पश्चिमी जगत की घटनाओं की जानकारी भारत को 18वीं शताब्दी से ही मिलती रही थी।

भारतीय लोगों को बौद्धिक जीवन पश्चिम के बुद्धिवाद, मानवतावाद, लोकतंत्र और संप्रभुता जैसे विचारों से प्रभावित हुआ। इन विचारों के प्रभाव से भारतीयों की दृष्टि न केवल अपने समाज, अर्थव्यवस्था और सरकार के प्रति आलोचनात्मक हो गयी बल्कि वे भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की वास्तविक प्रकृति को भी समझने लगे।

ये विचार कई माध्यमों से फैले, जिनमें शिक्षा, प्रेस, पम्फलैट और जन सभाएँ प्रमुख हैं। हालाँकि आधुनिक शिक्षा का प्रसार काफी सीमित था वैसे तो विदेशी शासकों का रुख प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के प्रति उपेक्षित था लेकिन 1858 के बाद तो उनका रुख उच्च शिक्षा के प्रति भी शत्रुतापूर्ण हो गया। जब अनेकों शिक्षित भारतीय अपनी आधुनिक शिक्षा द्वारा साम्राज्यवादी और अंग्रेजी शासन की उपनिवेश–विरोधी राजनीति आंदोलनों को संगठित करने लगे तो अंग्रेज प्रशासकों ने उच्च शिक्षा को निरंतर नियंत्रित और सीमित करना आरंभ कर दिया। शिक्षा का संगठन और तरीका, उद्देश्य, प्रकार, विषय सामग्री आदि उपनिवेशवाद की सेवा करने के उद्देश्य से तैयार की गयी।

औपनिवेशिक विशिष्टता के कारण भारतीय शिक्षा में आए कुछ अन्य पहलुओं पर भी हमें दृष्टिपात करना चाहिए। इनमें से एक आधुनिक तकनीकी शिक्षा की पूर्ण उपेक्षा किया जाना था जो आधुनिक उद्योगों के विकास और उद्भव के लिए मूलभूत आवश्यकता थी। भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाए जाने पर बल दिया जाना एक अन्य पहलू था। इससे न केवल जनसाधारण में शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध हुआ बल्कि इसने तो शिक्षित भारतीयों और जनसाधारण के बीच भी एक महत्वपूर्ण भाषाई और सांस्कृतिक खाई पैदा कर दी। शिक्षा को पर्याप्त राशि आबंटित न किए जाने से धीरे-धीरे शैक्षिक मानदण्ड निम्न स्तर पर पहुँचने लगे। इसके अलावा छात्रों को विद्यालयों और महाविद्यालयों में फीस देनी पड़ती थी तो इससे भी शिक्षा माध्यम और उच्च वर्ग तथा शहरों और कस्बों के लोगों का एकाधिकारी सद्गुण बन गयी।

नये आर्थिक और राजनीतिक जीवन से संबंधित नवीन विचारों तथा अंग्रेजी शासन ने भारतीय जनता के सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव छोड़ा। यह प्रभाव सर्वप्रथम शहरी क्षेत्रों में परिलक्षित हुआ और बाद में यह गाँवों तक पहुँच गया। आधुनिक उद्योगों, यातायात के नये साधनों, बढ़ते शहरीकरण तथा कारखानों, कार्यालयों, चिकित्सालयों और विद्यालयों में महिला कर्मियों की बढ़ती संख्या के परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन को नई दिशा मिली। सामाजिक एकाधिकारिता और जातीय कठोरताएँ ध्वस्त हो गयी। पुरानी भूमि और ग्रामीण संबंधों के संपूर्ण विघटन ने देशभर में जातीय संतुलन को अस्त-व्यस्त कर दिया। हालाँकि बहुत सारी बुराइयाँ भी थी, फिर भी पूँजीवाद के प्रवेश से धन और लाभ कमाना सामाजिक स्तर का आधार बन गया और ये सामाजिक गतिविधियों सर्वाधिक वाँछनीय बन गयी।

आरंभ में औपनिवेशिक राष्ट्र की नीतियों ने उपनिवेश में सामाजिक सुधारों को प्रोत्साहित किया। आर्थिक लाभ कमाने और अपने शासन को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य को ध्यान में रखकर अंग्रेजों ने भारतीय समाज को आधुनिक बनाने का प्रयास भी किया। कुछ सीमा तक कुछ अधिकारियों में सामाजिक अन्याय, भारतीय जाति व्यवस्था तथा समाज में महिलाओं की हीन दशा को देखकर मानवतावादी भावना भी विकसित हुई। इस स्तर पर सुधारों में इसाई मिशनकारियों ने भी योगदान दिया। लेकिन बहुत ही शीघ्र उपनिवेशवाद की मूलभूत प्रकृति और दूरगामी हितों के कारण सामाजिक सुधारों के प्रति औपनिवेशिक नीतियाँ बदल गयी। इसके बाद तो अंग्रेजों ने सामाजिक सुधारों से अपना हाथ खींच लिया और वे समाज के रुढ़िवादी और प्रतिगामी तत्वों का साथ देने लगे।

1.3.2 अर्थव्यस्था में हस्तक्षेप

स्वदेशी भारतीय अर्थव्यस्था पर उपनिवेशवाद के प्रभाव को सही परिपेक्ष्य में समझने के लिए हमें अर्थव्यवस्था की विभिन्न इकाइयों–कृषि, व्यापार और उद्योग–का अलग-अलग अध्ययन करना चाहिए।

कृषि का प्रभाव

अंग्रेजों ने भारत की कृषिगत अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण फेरबदल तो किया लेकिन यह सब भारतीय कृषि के विकास के उद्देश्य से नहीं किया गया बल्कि राजस्व संग्रह करने, सभी अधिशेषों का अपने लिए उपयोग करने और यहाँ के अधिशेषों का अपने लिए उपयोग करने और यहाँ की कृषि को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की सहायक बनाने के लिए किया गया। पुरानी संस्थाओं और संबंधों को समाप्त कर दिया गया और इनकी जगह नये संबंधों ने ले ली।

अंग्रेजों ने 'भू-राजस्व' और 'काश्तकारी' की दो प्रमुख व्यवस्थाएँ लागू की। इनमें पहली

जमींदारी व्यवस्था थी इसे बाद में 'महलवाड़ी व्यवस्था' के नाम से उत्तरी भारत में लागू किया गया। दूसरी व्यवस्था रैयतवाड़ी की थी।

इस व्यवस्था से काश्तकार किसानों को नुकसान हुआ। उन्हें ऊँची दर पर लगान अदा करना पड़ता था और सभी व्यवहारिक उद्देश्यों से वे एक किरायेदार की हैसियत से कार्य करते थे। उन्हें बहुत सारे अवैध देयों का भुगतान करना पड़ा और जबरन बेगार करनी पड़ती थी।

इस नई व्यवस्था द्वारा भूमि की मालिक सरकार बन गयी थी। काफी बाद 1901 में क्रमिक रूप से राजस्व दर घटा दी गयी लेकिन तब तक कृषि अर्थव्यवस्था तबाह हो चुकी थी।

भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था के संबंध में अंग्रेजों की नीतियों का एक दुष्परिणाम यह निकला कि देशभर में धन उधार देने वाला (साहूकार वर्ग) एक वर्ग महत्वपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। राजस्व की ऊँची दरों और संग्रह के कठोर तरीके के कारण काश्तकारों को करों के भुगतान हेतु धन उधार लेने के लिए बाध्य होना पड़ा था। काश्तकारों को उधार ली गई राशि का ऊँची दर पर ब्याज अदा करना पड़ता था और उन्हें फसल सस्ते दामों पर ही बेच देनी पड़ती थी। दूसरी तरफ साहूकार अपने लाभ के लिए न्याय व्यवस्था और प्रशासनिक तंत्र से जोड़-तोड़ बिठाकर रखते थे। सरकार तो वास्तव में इन साहूकारों की सहायता करती थी क्योंकि बिना इनकी सहायता से वह न तो राजस्व संग्रह कर सकती थी और न ही निर्यात के लिए कृषिगत उत्पादों को बंदरगाहों तक पहुँचा सकती थी। फसल के निर्यात के लिए काश्तकारों को तैयार करने के लिए भी सरकार को इन साहूकारों की जरूरत पड़ती थी। इसीलिए तो ग्रामीण अर्थव्यवस्था में इन साहूकारों ने महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। जमींदारी और रैयतवाड़ी की व्यवस्थाओं के द्वारा भूमि का बड़े पैमाने पर उसके वास्तविक स्वामियों से साहुकारों, सौदागरों, कर्मचारियों और धनी किसानों के हाथों में हस्तांतरण हुआ। इससे भूस्वामित्ववाद देश भर में महत्वपूर्ण बन गया।

इस व्यवस्था से किराया प्राप्त करने के कार्य में लगे बिचौलिए भी पनपे। नये भूस्वामियों और जमींदारों का पुराने जमींदारों के मुकाबले भूमि से कम ही संबंध रहा। भूमि के इन स्वामियों ने परेशानियों से बचने के लिए किराया संग्रह के अधिकार बिचौलिए किराया संग्रहकर्ताओं को आंशिक रूप से दे दिए।

अंग्रेजी राज के कारण कृषि संबंधों की एक नई संरचना विकसित हुई। नयी व्यवस्था में कृषि के विकास की कोई संभावना नहीं थी। नये वर्ग समाज के ऊपरी और निचले छोर पर बैठ गये। ऊपर छोर पर भूस्वामी, बिचौलिए और साहू लोग थे और निचले स्तर पर काश्तकार, हिस्सेदार और कृषि मजदूर थे। नई व्यवस्था न तो पूँजवादी थी, न सामंतवादी और न ही मुगलों की व्यवस्था को जारी रखा गया था। यह उपनिवेशवाद द्वारा सृजित एक नई व्यवस्था थी जो अपनी प्रकृति में अर्द्ध सामंती और अर्द्ध औपनिवेशिक थी।

दुर्भाग्य से इस सबके परिणामस्वरूप उत्पादन बढ़ाने या कृषि का आधुनिक तरीके से विकास करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। कृषिगत व्यवहार अपरिवर्तित रहा। उन्नत किस्म के बीज, उन्नत साधनों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। गरीब काश्तकारों के पास खेती के सुधार के लिए कोई संसाधन नहीं थे, भूमिपतियों को कोई आर्कषण नहीं था और औपनिवेशिक सरकारें का तो व्यवहार ही विचित्र भूस्वामियों जैसा था। सरकार का तो सारा ध्यान अच्छा राजस्व एकत्रित करने की ओर रहा और उसने भारतीय कृषि के विकास और समृद्धि के लिए कोई कदम नहीं उठाए।

नतीजन उत्पादन के क्षेत्र में लंबा ठहराव आ गया। बीसवीं शताब्दी के बारे में कृषि संबंधित आंकड़ों के अनुसार भी उत्पादन के क्षेत्र में अच्छी स्थिति नहीं थी। जबकि संपूर्ण कृषि उत्पादन में 1901 एवं 1939 के बीच 14 प्रतिशत की गिरावट आई, खाद्यान्न के प्रत्येक व्यक्ति (per capita) उत्पादन में इस समानतापूर्ण में 24 प्रतिशत की कमी आई, यह गिरावट अधिकतम 1918 के बाद आई।

बोध प्रश्न 2

नोट : 1) उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

2) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1 कृषि पर औपनिवेशिक हस्तक्षेप के प्रभाव पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

.....

व्यापार और उद्योग पर प्रभाव

ब्रिटिश भारत सरकार ने इंगलैंड के हितों की पूर्ति के लिए कृषि की तरह ही व्यापार और उद्योग पर भी नियंत्रण किया। निःसंदेह इससे भारत में व्यापारिक क्रांति हुई। और भारत का संबंध विश्व बाजार से हुआ किंतु इसने भारत को अधीनता की ओर धकेल दिया। विशेष रूप से 1858 के बाद विदेशी व्यापार में काफी वृद्धि हुई और 1899 में यह 213 करोड़ रुपये हो गया। 1924 में यह सर्वाधिक 758 करोड़ रुपये रहा। किंतु विदेशी व्यापार में यह प्रगति भारतीय अर्थव्यवस्था की दृष्टि से सकारात्मक नहीं थी न ही उससे भारत के लोगों की जीवन दशा सुधारने में कोई योगदान मिला। वस्तुतः विदेशी व्यापार को भारत की अर्थव्यस्था को औपनिवेशिक व विश्व-पूँजीवाद पर निर्भर बनाने के एक साधन के रूप में अपनाया गया था। विदेशी व्यापार में यह वृद्धि न तो स्वभाविक थी और न ही सामान्य थी। बल्कि यह तो साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए थोपी गयी थी। विदेशी व्यापार की प्रकृति काफी असंतुलित थी। भारत में ब्रिटिश की बनी हुई वस्तुओं का ढेर लग गया तथा ब्रिटेन व अन्य देशों की आवश्यकताओं के अनुरूप कच्चे माल का उत्पादन और निर्यात कराया जाने लगा।

विदेशी व्यापार के कारण देश में आय के वितरण पर विपरीत असर पड़ा। इस नीति से कृषकों और शिल्पकारों से संसाधनों का हस्तांतरण धन उधार देने वालों व विदेशी पूँजीवादियों के हाथों में हो गया।

इस अवधि में भारतीय विदेशी व्यापार का एक महत्वपूर्ण लक्षण यह था कि निर्यात आयात की अपेक्षा हमेशा अधिक रहा। किंतु हमें यह नहीं सोच लेना चाहिए कि यह भारत के हित में था। इस निर्यात से भारत को अन्य देशों पर भविष्य के लिए कोई अधिकार नहीं मिले बल्कि भारतीय पूँजी और संसाधनों का निकास ही हुआ। यह भी स्मरणीय है कि विदेशी व्यापार का अधिकांश भाग विदेशी लोगों के हाथ में था। लगभग सारा व्यापार विदेशी जहाजों द्वारा ही होता था।

ब्रिटिश शासन की नीति का एक प्रमुख दुष्परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण और शहरी हस्तशिल्प उद्योगों का शैनेः शैने पतन और विनाश हो गया। इससे भारत को न केवल ऐशिया और यूरोप के विदेशी बाजारों से हाथ धोना पड़ा बल्कि बड़े पैमाने पर मशीनों से बनी सस्ती वस्तुओं से भारतीय बाजार भर गये। इसके बाद तो स्वदेशी शिल्प उद्योग लगभग समाप्त हो गया। स्वदेशी उद्योगों के विनाश और रोजगार के अन्य साधनों के अभाव के कारण लाखों शिल्पी खेती करने के लिए बाध्य हुए। इस प्रकार भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट ही होता है कि 1947 तक भारत में औद्योगिक विकास काफी कम व धीरे-धीरे हुआ किसी भी स्थिति में इसे औद्योगिक क्रांति या उसकी शुरुआत भी नहीं माना जा सकता। उससे अधिक प्रमुख बात तो यह थी कि यह सीमित विकास भी स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ, विदेशी पूँजी के नियंत्रण में हुआ। इसके अलावा, औद्योगिक ढ़ाँचा इस प्रकार का था कि इसका और विकास ब्रिटेन पर और अधिक निर्भरता बढ़ता। भारी पूँजीगत सामान और रसायन उद्योगों का पूर्णतः अभाव था। इनके बिना तेज और स्वतंत्र औद्योगिक विकास बहुत कठिन था। मशीनी यंत्रों, अभियांत्रिकी और उद्योगों का तो जैसे अस्तित्व ही नहीं था। यही नहीं तकनीकी के क्षेत्र में भी भारत पूर्णतः साम्राज्यवादी देशों पर निर्भर था क्योंकि तकनीकी अनुसंधान का कोई कार्य देश में चलाया ही नहीं गया था।

1.3.3 शासन-व्यवस्था में हस्तक्षेप

आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं के अलावा ब्रिटेन ने तत्कालीन शासन व्यवस्था में भी परिवर्तन करना चाहा। इस क्षेत्र में हस्तक्षेप का प्रमुख उद्देश्य भारतीय क्षेत्र से अधिक से

अधिक लाभ कमाना व भारत पर ब्रिटेन की पकड़ को और मजबूत बनाना था। भारत सरकार का पूरा प्रशासनिक ढाँचा इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बनाया और विकसित किया गया। इस दृष्टि से कानून और व्यवस्था बनाए रखने पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया ताकि निर्विघ्न रूप से भारत से व्यापार किया जा सके तथा यहाँ से संसाधनों का शोषण जारी रह सके।

अब हम ब्रिटेन द्वारा भारत में शुरू की गयी कुछ प्रमुख संस्थाओं/व्यवस्थाओं पर नजर डालेंगे।

नागरिक सेवाएँ : भारत में नागरिक सेवाओं का शुभारंभ लार्ड कार्नवालिस ने किया। जैसा हमने पहले अध्याय में देखा, ईस्ट इंडिया कंपनी ने शुरू से ही पूर्वी देशों में अपना व्यापार ऐसे कर्मचारियों के द्वारा किया जिन्हें कम वेतन दिया जाता था परंतु जिन्हें निजी रूप से व्यापार करने की छूट थी। बाद में जब कंपनी प्रादेशिक बन गयी [illegible] ये कर्मचारी ही प्रशासनिक कार्य करने लगे। ये कर्मचारी अब काफी भ्रष्ट हो गये। स्थानीय जुलाहों, हस्त शिल्पियों, व्यापारियों और जमींदारों के दमन, राजाओं और नवाबों से घूस और उपहार आदि लेकर तथा अवैध निजी व्यापार के द्वारा अपार पूँजी कमा कर ये कर्मचारी सेवानिवृत्त होकर इंगलैंड चले गये। लार्ड क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज ने इस भ्रष्ट प्रकृति को रोकने के प्रयास किए किंतु वे कुछ हद तक ही सफल रहे।

कार्नवालिस, जो 1786 में गवर्नर जनरल बनकर भारत आया, प्रशासन को स्वच्छ बनाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था। उसने अनुभव किया कि जब तक कर्मचारियों को प्रर्याप्त वेतन नहीं दिया जाता उनसे कुशल और सच्ची सेवाओं की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए उसने निजी व्यापार तथा घूस और उपहार स्वीकार करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए कठोर नियम लागू किए। साथ ही कंपनी के कर्मचारियों के वेतन बढ़ा दिये गये। उदाहरण के लिए जिला कलेक्टर को 1500 रुपये प्रतिमाह वेतन तथा जिले से प्राप्त राजस्व पर एक प्रतिशत कमीशन देना निश्चित किया गया। इसलिए वेतन की दृष्टि से कंपनी की नागरिक सेवाएँ विश्व की श्रेष्ठतम सेवाएँ हो गयी थी। कार्नवालिस ने वरिष्ठता को पदोन्नति का आधार बनाया ताकि इन सेवाओं के सदस्य बाह्य प्रभावों से स्वतंत्र रह कर कार्य कर सकें।

सन् 1800 में लार्ड वैलेजली ने देखा कि, यद्यपि नागरिक कर्मचारी प्रायः बड़े क्षेत्र पर शासन करते हैं परंतु वे 18 वर्ष के आस-पास की अपरिपक्व आयु में भारत आते हैं तथा उन्हें अपना कार्य आरंभ करने से पहले कोई नियमित प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। और भारतीय भाषाओं की भी उन्हें प्रायः जानकारी नहीं होती। अतः उसने असैनिक सेवाओं में भर्ती होने वाले नये युवाओं की शिक्षा के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। कंपनी के निर्देशकों ने उसके इस कार्य को अस्वीकृत कर दिया तथा 1806 इसकी जगह इंगलैंड में हेलबरी स्थान पर कंपनी ने स्वयं अपना ईस्ट इंडियन कॉलेज शुरू किया।

1853 तक सिविल सेवाओं में नियुक्ति का कार्य ईस्ट इंडिया कंपनी के निर्देशकों द्वारा किया जाता था। ये नियंत्रक मंडल के सदस्यों को कुछ नागरिक सेवकों के नाम भी सिफारिश कराकर खुश किया करते थे। संसद द्वारा निर्देशकों से आर्थिक और राजनीतिक विशेषाधिकार वापस लिये जाने पर इन्होंने अपने इस आकर्षक विशेषाधिकार को बनाए रखने के लिए काफी प्रयास किये और इस अधिकार को त्यागने से मना कर दिया। 1853 के चार्टर एक्ट में यह व्यवस्था कर देने से कि नागरिक सेवाओं में सभी भर्तियाँ प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से की जाएँगी, अंततः उनका यह अधिकार भी छिन गया।

कार्नवालिस के समय से ही भारतीय नागरिक सेवाओं की एक विशेषता यह रही कि उनसे भारतीयों को पूरी तरह अलग रखा गया। 1793 में औपचारिक रूप से यह व्यवस्था कर दी गयी कि 500 डालर प्रति वर्ष से अधिक वेतन पाने वाले प्रशासन के सभी उच्च दरों पर अंग्रेजों की ही नियुक्ति की जाएगी। सरकार के अन्य विभागों जैसे सेना, पुलिस, न्यायिक सेवा, इंजीनियरिंग के लिए भी यही नीति अपनायी गयी। कार्नवालिस के बाद गवर्नर जनरल बने जॉनशोर के शब्दों में–

> "हमारा मूलभूल सिद्धांत यह है कि हर तरीके से पूरे भारत को हमारे हितो और लाभों के लिए अधीनस्थ बनाना है। भारतीयों को प्रत्येक सम्मान, गौरव और पद से जिसे पाने के लिए निम्नतम अंग्रेज भी उपलब्ध हो सकता है, वंचित कर दिया गया है"।

अंग्रेजों ने यह नीति क्यों अपनाई? इसके कई कारण हैं। प्रथम, उन्हें यह विश्वास था कि अंग्रेजी विचारों, संस्थाओं और कार्यों पर आधारित प्रशासन की स्थापना केवल ब्रिटिश कर्मचारियों द्वारा ही की जा सकती है। उन्हें भारतीय लोगों की योग्यता और निष्ठा पर भी विश्वास नहीं था। उदाहरण के लिए निर्देशक मंडल के अध्यक्ष ग्रांट ने भारत के लोगों की निंदा की। उसने कहा कि भारत के लोगों की "कौम बहुत गिरी हुई और निम्न है। उनके पास नैतिकता की भावना है पर वह बहुत दुर्बल है। ..... और अपनी बुराइयों के कारण वे दुखों में डूबे हुए हैं। इसी प्रकार कार्नवालिस का विश्वास था कि "हिन्दुस्तान का प्रत्येक व्यक्ति भ्रष्ट है।" यह ध्यान रखने की बात है कि यह आलोचना उस समय के कुछ भारतीय अधिकारियों और जमींदारों के लिए सच थी। किंतु यही बात अधिक नहीं तो समान रूप से भारत में ब्रिटिश अधिकारियों के लिए भी सच थी। वास्तव में कार्नवालीस ने उन्हें लोभ से बचने और ईमानदार तथा अनुशासित रहने के लिए ही अधिक वेतन देने का प्रस्ताव किया था। किंतु उसने भारतीय अधिकारियों की भ्रष्टाचार प्रवृत्ति को रोकने के लिए किसी उपाय के बारे में सोचा तक भी नहीं।

वास्तव में उच्च पदों से भारतीयों को अलग रखने की एक सुविचारित नीति थी। इन सेवाओं की जरूरत उस समय थी जबकि भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना और उसे मजबूत करने का समय था। अतः स्पष्ट रूप से यह कार्य उन भारतीयों पर नहीं छोड़ा जा सकता था जिनको अंग्रेजों की तरह ब्रिटेन के हितों की समझ व आंतरिक लगाव नहीं हो सकता था। इसके अलावा ब्रिटिश समाज के प्रभावशाली वर्ग भारतीय नागरिक सेवाओं व अन्य सेवाओं में अपने पुत्रों व हितैषियों का एकाधिकार बनाए रखना चाहते थे। वास्तव में इन नियुक्तियों के लिए वे परस्पर खूब लड़े। कंपनी के निर्देशकों तथा ब्रिटिश मंत्रीमंडल के सदस्यों के बीच स्थायी झगड़े की जड़ यह नियुक्ति करने का अधिकार ही था। तब वे भारतीयों की इन पदों पर नियुक्ति को स्वीकार कर ही कैसे सकते थे? तो भी निम्न पदों पर काफी बड़ी संख्या में भारतीयों की नियुक्ति की जाती थी क्योंकि वे वेतन के पद थे जिनके लिए भारतीय आसानी से उपलब्ध हो पाते थे।

भारतीय नागरिक सेवाएँ धीरे-धीरे विश्व की सबसे अधिक शक्तिशाली व कुशल सेवाएँ बन गयी। उसके सदस्यों को काफी अधिकार प्राप्त थे और ये प्रायः नीति-निर्माण में भी भाग लेते थे। इनमें स्वतंत्रता, निष्ठा व परिश्रम की कुछ परंपराएँ विकसित हो गयी थी, यद्यपि इनसे ब्रिटेन के हितों की ही पूर्ती होती थी। धीरे-धीरे वे एक पृथक कठोर व सम्मानजनक "जाति" के रूप में परिवर्तित हो गये जिसका दृष्टिकोण काफी रूढिवादी और संकीर्ण थे। वे यह मानने लगे कि भारत पर शासन करना उनका दैवीय अधिकार है। भारतीय असैनिक सेवाएँ, जिन्होंने ब्रिटिश शासन को जीवन्तता प्रदान की, प्रायः "इस्पाती ढाँचे" के नाम से भी पुकारी जाती थी। धीरे-धीरे यह भारत के जीवन में जो भी प्रगतिशील या सुधारवादी चीज होती थी, उनकी प्रमुख विरोध बन गयी तथा बढ़ते हुए भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विरोध का लक्ष्य बन गयी।

बोध प्रश्न 3

नोट : 1) उत्तर के लिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की जाँच अध्याय के अंत में दिए गये उत्तर से करें।

1) भारतीय नागरिक सेवाओं के संबंध में कॉर्नवालिस की भूमिका का संक्षेप में विवेचन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

सेना

भारत में ब्रिटिश शासन का दूसरा प्रमुख स्तंभ सेना थी। सेना नें तीन प्रमुख कार्य किये। इसके द्वारा भारतीय शक्तियों (राज्यों) को जीता गया, इसने ब्रिटिश साम्राज्य की विदेशी प्रतिस्पर्द्धियों से रक्षा की, तथा सदैव आंतरिक विद्रोहों से ब्रिटिश सर्वोच्चता की सुरक्षा की।

कंपनी की सेना के अधिकांश सिपाही भारतीय होते थे जो प्रायः वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार के क्षेत्रों से भर्ती किए जाते थे। उदाहरण के लिए 1857 में कुल 3,11,400 सिपाहियों में से 2,65,900 भारतीय थे। इसके अधिकारी अंग्रेज ही होते थे विशेष रूप से कॉर्नवालिस के समय से। 1856 में सेना में कुल तीन ही भारतीय अधिकारी ऐसे थे जिनका वेतन 300 रुपये प्रतिमाह था व जिन्हें उच्चतम सूबेदार का पद प्राप्त था। फौज में अधिकतर भारतीय ही शामिल किए जाते थे क्योंकि ब्रिटिश फौज काफी मँहगी होती थी। इसके अलावा भारत जैसे देश को जीतने के लिए बड़ी सेना की आवश्यकता थी। चूँकि ब्रिटिश की जनसंख्या इतनी अधिक नहीं थी अतः सेना में आफिसर के पदों के लिए ब्रिटिश अधिकारी चुने जाते थे व कुछ ब्रिटिश फौज रखी जाती थी ताकि भारतीय सिपाहियों को नियंत्रण में रखा जा सके।

फिर भी आश्चर्य होता है कि सेना में अधिकतर भारतीय होने के बावजूद भी मुट्ठी भर विदेशियों ने भारत को जीत कर अपने नियंत्रण में कर लिया। इसके दो संभावित कारण हैं; पहला—उस समय देश में राष्ट्रवाद की भावना नहीं थी। बिहार या अवध के किसी सिपाही ने न ऐसा सोचा और न ही वह सोच सकता था कि मराठों या पंजाबियों को हराने में कंपनी की मदद करना भारत विरोधी है; दूसरा भारतीय सिपाहियों में यह परंपरागत भावना थी कि जो उनको रोटी देता है उसके प्रति निष्ठा से सेवा करें। अर्थात् जिसकी थाली में खाये उसमें छेद न करे। दूसरे शब्दों में भारतीय सिपाही अच्छे मिशनरी की तरह थे और कंपनी अच्छी दाता थी। सिपाहियों को नियमित व ठीक वेतन भी दिया जाता था जबकि भारतीय राजा व नवाब ऐसा नहीं कर रहे थे।

पुलिस

ब्रिटिश शासन का तीसरा स्तंभ पुलिस थी, जिसका सृजनकर्ता भी कॉर्नवालिस ही था। उसने जमींदारों से पुलिस के कार्य ले लिए व कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए स्थायी पुलिस फोर्स बनायी। इसके लिए उसने थानों की पुरानी भारतीय व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया। इस कार्य में भारत ब्रिटेन से भी आगे रहा क्योंकि वहाँ पुलिस की व्यवस्था आरंभ नहीं हुई थी। कॉर्नवालिस ने दरोगा के नेतृत्व में, जो भारतीय होता था, सर्किल या थानों की व्यवस्था की। बाद में जिले में पुलिस संगठन के नेतृत्व के लिए डिस्ट्रिक्ट सुपरिन्टैंडेंट (जिला अधीक्षक) के पद का सृजन किया गया। पुलिस में भी ऊँचे पदों से भारतीयों को अलग-अलग रखा गया। गाँवों में गाँव का चौकीदार ही पुलिस का कर्तव्य निभाता था जिसका खर्चा गाँव वाले ही वहन करते थे।

धीरे-धीरे पुलिस डकैती जैसे बड़े अपराधों को कम करने में सफल रही। इसकी एक बड़ी उपलब्धि यह थी कि यह विशेष रूप से मध्य भारत में बड़े मार्गों पर यात्रियों को लूटने व मारने वाले ठगों का दमन करने में सफल रही। विदेशी नियंत्रण के विरुद्ध बड़े षड्यंत्र करने वाले संगठनों पर भी इसने नियंत्रण किया और जब राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हुआ तो इसे दबाने के लिए भी इसके प्रयोग किए गये। जनता के प्रति पुलिस का रवैया असहानुभूतिपूर्ण रहा।

और गर्वनर जनरल विलियम बैंटिक ने 1832 में लिखा कि:

> "जहाँ तक पुलिस का सवाल है, लोगों की सुरक्षा की बात तो दूर, जनभावना का इससे बेहतर उदाहरण मैं नहीं दे सकता हूँ कि अभी हाल में पारित एक अध्यादेश जिसके तहत कहीं भी चोरी होने पर पुलिस कार्यवाही केवल प्रभावित व्यक्तियों के कहने पर ही होगी, जनमानस में बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। कहने का मतलब, चरवाहा भेड़िये से ज्यादा खतरनाक है"।

न्यायिक संगठन

अंग्रेजों ने सिविल व अपराधिक अदालतों के एक पद-सोपान को अपनाकर न्याय करने की एक नयी प्रणाली की शुरुआत की। यद्यपि इसे वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा शुरू किया गया था किंतु 1793 में कॉर्नवालिस द्वारा इसे वास्तविक रूप दिया गया। प्रत्येक जिले में एक दीवानी या सिविल कोर्ट की स्थापना की गई जिसकी अध्यक्षता जिला मजिस्ट्रेट करता

जो सिविल सेवा का अधिकारी होता था। कॉर्नवालिस ने इस प्रकार सिविल जल व कलैक्टर के पदों को अलग-अलग कर दिया। जिला न्यायालय के बाद पहले सिविल अपील की चार प्रांतीय अदालतों में और अंत में सदर दीवानी अदालत में अपील की जा सकती थी। जिला न्यायालयों से नीचे रजिस्ट्रार का न्यायालय होता था जीकसा प्रमुख यूरोपीय व्यक्ति होता था तथा इसके बाद अधीनस्थ न्यायालय होते थे, जिनके प्रमुख भारतीय जज होते थे जिन्हें मुन्सिफ और अमीन कहा जाता था।

अपराधिक मामलों से निपटने के लिए कॉर्नवालिस ने बंगाल प्रैजीडैन्सी को चार डिवीजनों में बाँटा जिनमें से प्रत्येक में सिविल कर्मचारियों की देखरेख में सर्किट कोर्ट की स्थापना की गयी। इन अदालतों से नीचे कई भारतीय जज होते थे जो छोटे-मोटे विवादों को सुनते थे। सर्किट अदालत के बाद अपील सदर निजामत अदालत में की जाती थी। अपराधिक न्यायालयों में मुस्लिम अपराधिक विधि को सुधारकर व कम दंडनीय बनाकर लागू किया गया ताकि वैसी अन्य सजाएँ रोकी जा सके। सिविल अदालतों में अज्ञात समय से चले आ रहे क्षेत्र विशेष में प्रचलित, या लोगों में मान्यता प्राप्त रीति-रिवाज या परंपरागत कानून को लागू किया गया। 1831 में विलियम बैंटिक ने अपील की प्रांतीय अदालतों व सर्किट अदालतों को समाप्त कर दिया। उनके कार्य कमिश्नरों को तथा बाद में जिला मजिस्ट्रेटों व जिला कलैक्टरों को दे दिये गये। बैंटिक ने न्यायिक सेवाओं में भारतीयों की शक्तियों को और सम्मान को बढ़ा दिया तथा इनकी नियुक्ति डिप्टी मजिस्ट्रेट, अधीनस्थ जजों व प्रांतीय सदर अमीनों के रूप में की जाने लगी। 1865 में दीवानी और निजामत सदर अदालतों की जगह कलकत्ता, मद्रास और बंबई में उच्च न्यायालयों की स्थापना की गयी।

अंग्रेजों ने पुराने कानूनों का संहिताकरण व सुधार कानूनों की नयी व्यवस्था शुरू की। भारत में न्याय की परंपरागत व्यवस्था रीति रिवाजों (कस्टमरी लॉ) पर आधारित थी जो एक काफी पुरानी परंपरा व व्यवहार पर आधारित थे। यद्यपि कई कानून शास्त्रों व शरियात (shariat) के साथ-साथ शाही सत्ता पर आधारित थे। यद्यपि सामान्य रूप से अंग्रेज कस्टमरी लॉ को ही अपनाते थे, किंतु धीरे-धीरे उन्होंने कानूनों की एक नयी व्यवस्था विकसित कर ली। उन्होंने विनिमय शुरू किए, तत्कालीन कानूनों को संहिताबद्ध किया व उन्हें न्यायिक व्याख्याओं द्वारा समयानुकूल व व्यवस्थाकृत बनाया। 1833 के चार्टर में कानून बनाने की सभी शक्तियाँ सपरिषद् गवर्नर जनरल को प्रदान कर दी गयी। इसका मतलब यह था कि भारतीयों को अब मानव निर्मित कानूनों का, जो चाहे अच्छे हों या खराब पालन करना था किंतु ये कानून मानव-विवेक द्वारा निर्मित थे न कि उन विधियों के अधीन थे जिनको आँख बंद कर इसलिए पालन किया जाता था कि वे दैवीय या पवित्र माने जाते थे और उन पर आपत्ति भी नहीं की जाती थी।

1833 में भारतीय कानूनों को संहिताबद्ध करने के लिए लॉर्ड मैकाले के नेतृत्व में विधि के आयोग का गठन किया गया। इसके प्रयासों से भारतीय दंड सहिता (इंडियन पैनल कोड) पाश्चात्य आधार पर सिविल व अपराधिक प्रक्रिया संहिताएँ व अन्य कानून संहिताएँ बनी। इस प्रकार पूरे देश में एक ही तरह के कानून हो गये व उन्हें एक ही तरह की अदालतों की व्यवस्थाओं द्वारा लागू किया गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि न्यायिक रूप से भारत एक हो गया।

विधि का शासन

अंग्रेजों ने विधि के शासन की अवधारणा को लागू किया। इसका अर्थ यह था कि कम से कम सिद्धांत रूप में प्रशासन का कार्य कानूनों के अनुसार, जो व्यक्तियों के अधिकारों, सुविधाओं और कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं–चलाया जायेगा न कि शासकों की इच्छाओं या व्यक्तिगत विवेक के आधार पर। किंतु व्यवहार में नौकरशाही व पुलिस को निरंकुश शक्तियाँ प्राप्त थी जो प्रायः जनता के अधिकारों व स्वतंत्रताओं में बाधाएँ डालती रहती थी। विधि के शासन का एक प्रमुख लक्षण यह था कि अपने कर्तव्यों को पूरा न करने या अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर कार्य करने पर अधिकारियों को भी कोर्ट के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता था। विधि का शासन कुछ हद तक व्यक्ति की स्वतंत्रता की गारंटी था। यह सत्य है कि भारत में पहले के शासक प्रायः रीति-रिवाजों और परंपराओं द्वारा प्रतिबंधित थे किंतु उन्हें अपनी इच्छानुसार कोई प्रशासनिक कदम उठाने का विधिक अधिकार था और उनके ऊपर कोई ऐसी सत्ता नहीं थी जिसके प्रति वे जवाबदेह हों। भारतीय शासकों व प्रमुखों ने कभी-कभी इस शक्ति का प्रयोग अपनी इच्छा के अनुसार ही किया। ब्रिटिश शासन में, इसके विपरीत सामान्यतः प्रशासन न्यायालयों द्वारा स्थापित कानूनों के अनुसार ही चलाया जाता था यद्यपि कभी-कभी कानून भी दोषपूर्ण होते थे और

ये प्रजातांत्रिक प्रक्रियानुसार जनता द्वारा नहीं बनाये जाते थे बल्कि विदेशी शासकों द्वारा निरंकुश रूप में बनाये जाते थे तथा अधिकतर शक्तियाँ सिविल कर्मचारियों व पुलिस को प्रदान करते थे परंतु यह विदेशी शासन में आवश्यक था क्योंकि स्वभाव से ही ऐसा शासन प्रजातांत्रिक या उदार वादी नहीं हो सकता था।

विधि के समक्ष समानता

अंग्रेजों के अधीन भारत में कानून व्यवस्था विधि के समक्ष समानता की अवधारणा पर आधारित थी, जिसका तात्पर्य कानून की नजरों में सभी को समान समझा जाने से था। सभी लोगों पर उनकी जाति, वर्ण, धर्म और वर्ग के भेदभाव बिना एक ही कानून लागू था इससे पूर्व की न्याय व्यवस्था में ऊँच-नीच के अधार पर भेदभाव किया जाता था। एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण को गैर-ब्राह्मणों से कम दंड दिया जाता था। ठीक इसी तरह जमींदार और कुलीनों पर आम आदमियों की तरह मुकदमा नहीं चलाया जाता था। वास्तव में उनके सभी कार्य न्याय पर आधारित नहीं होते थे।

फिर भी विधि के समक्ष समानता के इस उत्तम सिद्धांत का एक अपवाद भी था कि यूरोपीय और उनकी संतति के लिए अलग अदालतें और अलग कानून थे। अपराधिक मामलों में उनके खिलाफ सुनवाई केवल यूरोपीय जज ही कर सकते थे। बहुत से अंग्रेज अधिकारियों, व्यापारियों, सैनिक अधिकारियों आदि का व्यवहार भारतीयों के प्रति गरिमाविहीन, अनुचित, भेदभावपूर्ण तथा अभद्र रहता था। इस तरह यूरोपियों को अप्रत्यक्ष और अदेय संरक्षण दिया जाता था। तथा यूरोपीय जज भी उन्हें छोटा-मोटा ही दंड देकर टाल देते थे। इसके परिणामस्वरूप न्याय का अवैद्य रूप से दुरुपयोग हुआ।

व्यवहार में जहाँ एक अन्य प्रकार की कानूनी समानता प्रकट हुई। न्याय महँगा हो गया था क्योंकि वकीलों और न्यायालयों की फीस काफी ऊँची होती थी। अदालतें भी जिला मुख्यालय पर ही होती थी तथा मामले बरसों तक लंबित पड़े रहते थे। जटिल कानून अनपढ़ और अपेक्षित किसानों की समझ से बाहर था। इसलिए धनी लोग पैसों के बल पर सारी प्रक्रिया को अपने पक्ष में कर सकते थे। इसके अलावा पुलिस और शासन के बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार से भी न्याय की उपेक्षा की जा सकती थी। सरकारी कर्मचारी भी धनवानों और जमींदारों का पक्ष लेते थे। इसके विपरीत जो न्याय व्यवस्था अंग्रेजों के आने से पूर्व यहाँ विद्यमान थी वह तुलनात्मक रूप में अनौपचारिक, तीव्र और सस्ती थी इसलिए नई व्यवस्था कोई ज्यादा लाभकारी साबित नहीं हुई।

1.4 साराश

अंग्रेजों के शासन के परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के अंत तक भारत एक क्लासिक उपनिवेश में तब्दील हो गया। यह ब्रिटिश उत्पादों के लिए प्रमुख बाजार, कच्चे माल और खाद्यान्नों का एक बड़ा स्रोत तथा विदेशी ब्रिटिश पूँजी के निवेशों के लिए महत्वपूर्ण क्षेत्र बन गया था। इसकी कृषि साम्राज्यवादी हितों के अनुकूल बना दी गयी थी। यातायात व्यवस्था, आधुनिक खानें और उद्योग, विदेशी व्यापार, तटीय और अंतर्राष्ट्रीय जहाजरानी, बैंक और बीमा कंपनियों आदि का नियंत्रण विदेशी हाथों में था। भारत ने हजारों मध्यवर्गीय अंग्रेजों को रोजगार दिया और इसका एक तिहाई राजस्व इन लोगों के वेतन भत्तों पर व्यय हो जाता था। भारतीय सेना अंग्रेजी साम्राज्य की प्रमुख रक्षक के रूप में कार्य कर रही थी तथा यह पूर्व, दक्षिण-पूर्व, मध्य और पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी-पूर्वी और दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों के हितों की रक्षा कर रही थी। इस सबके अतिरिक्त भारतीय अर्थ व्यवस्था और सामाजिक विकास पूर्णतया ब्रिटेन की अर्थ व्यवस्था और सामाजिक विकास के अधीनस्थ बन गये थे। भारतीय अर्थ व्यवस्था विश्व पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में विलीन हो गई थी। जिस समय ब्रिटेन विश्व के विकसित, पूँजीवादी देश के रूप में उभर रहा था, उस समय भारत विश्व का पिछड़ा और औपनिवेशिक देश बनता जा रहा था। वास्तव में ये दोनों प्रक्रियाएँ कार्य-कारण के हिसाब से परस्पर संबद्ध थी। भारत और ब्रिटेन के बीच आर्थिक संबंधों की संपूर्ण संरचना के परिणामस्वरूप भारत व्यापार, वित्त, तकनीक आदि के क्षेत्र में निरंतर आश्रित होता चला गया।

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चंद्रा बिपन : *नेशनलिज़्म एंड कौलोनियलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया*, ओरियंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1979

वर्मा वी.पी. : *मॉडर्न इंडियन पॉलिटक्ल थॉट*

सरकार सुमित : *मॉडर्न इंडिया, 1885-1947* मद्रास मैकमिलन, 1985

पंथम टी एंड डौयश कै. नेथ एल (संपा) : *पॉलिटिकल थॉट इन माडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, 1986

देसाई, ए.आर : *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नैश्नलिज़्म*, बंबई, 1948

विशप, डी.एच. : *इंडियन थॉट-ऐन इंट्रोडक्शन*, वाइली इस्टर्न, 1975

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
भाग 1.2 और उपभाग 1.2.1-1.2.3 देखिए

बोध प्रश्न 2
उपभाग 1.3.2 देखिए

बोध प्रश्न 3
उपभाग 1.3.3 देखिए

इकाई 2 आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन : विषय एवं दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य और औपनिवेशिक शासन की अवधारणा
2.3 पुनर्जागरण और सामाजिक सुधार
  2.3.1 धर्म और समाज की विवेकपूर्ण समीक्षा
  2.3.2 धार्मिक पुनरुत्थानवाद
2.4 उदारवाद : विभिन्न तत्व
  2.4.1 एम.जी. रानाडे
  2.4.2 ज्योतिबा फुले और बी.आर. अम्बेडकर
2.5 राष्ट्रवाद
2.6 समाजवाद
  2.6.1 क्रांतिकारी समाजवाद
  2.6.2 मार्क्सवादी समाजवाद
  2.6.3 कांग्रेसी समाजवाद
2.7 सर्वोदय और अराजकतावाद
2.8 सारांश
2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
2.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- आधुनिक भारत के समक्ष उत्पन्न मुद्दों की व्याख्या कर सकेंगे,
- 19वीं और 20वीं शताब्दी के दौरान भारत में प्रचलित राजनीतिक विचारों के इतिहास के बारे में जान सकेंगे,
- उपनिवेशवाद-विरोधी और राष्ट्रवाद के विभिन्न तत्वों के बीच अंतर समझ सकेंगे,
- भारतीय विचारकों की विभिन्न धाराओं और संप्रदायों की दलीलों की समुचित जानकारी हासिल कर सकेंगे, और
- भिन्न-भिन्न तर्कों के बारे में एक तुलनात्मक समझ बना सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देश्य आपको आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के प्रमुख लक्षणों की जानकारी कराना है। यह इकाई आपको सामान्य रूप से विषय के प्रमुख विचारों और इस विषय के अध्ययन से संबंधित प्रमुख दृष्टिकोण की विहंगम जानकारी देगा। चूँकि "आधुनिक" शब्द की विभिन्न व्याख्याएँ एवं अर्थ किए जाते रहे हैं, इसलिए आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन भी आज तक ठीक प्रकार से सुनिश्चित नहीं हो पाया है।

कुछ विद्वानों ने अपने देश की प्रवृत्तियों की उपेक्षा करते हुए भारत में "आधुनिक" मूल्यों के प्रचलन का श्रेय उपनिवेशवाद को दिया है। उनमें से कुछ विद्वानों ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद को आधुनिकीकरण का साधन मानकर उसका स्वागत किया। उनके विचार से औपनिवेशिक शासन द्वारा यूरोपीय संस्थाओं व विचारों के प्रचलन से भारत में आधुनिक

विचारों और सामाजिक तथा धार्मिक-विरोध आंदोलनों का जन्म हुआ। किंतु, 19वीं व 20वीं शताब्दी में आधुनिक विचारों के विकास में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव को नज़रअंदाज नहीं करते हुए भी 18वीं शताब्दी की भारतीय बौद्धिक परंपराओं और सामाजिक विकास की अंतर्निहित शक्तियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

2.2 औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य और औपनिवेशिक शासन की अवधारणा

जैसा कि पहली इकाई में बताया गया है, कि भारत को उपनिवेश बनाने की प्रक्रिया 19वीं शताब्दी के आरंभ तक पूरी हो चुकी थी। उसके बाद उपनिवेशवादी शासन का प्रमुख उद्देश्य, जो प्राप्त हो चुका था, उसे सुदृढ़ता से बनाए रखना अर्थात् अपनी शक्ति को बनाए रखना हो गया था। इस उद्देश्य के लिए शासितों का समर्थन प्राप्त करना उनके लिए आवश्यक था, जिसे वे सांस्कृतिक एवं वैचारिक प्रभुत्व के द्वारा ही प्राप्त कर सकते थे। ज़मींदार वर्ग का पोषण तथा प्रशासनिक व्यवस्था व अन्य औपनिवेशिक संस्थाओं के लिए शिक्षित शहरी मध्यम वर्ग तैयार करना अंग्रेजों द्वारा अपनी उपनिवेशवादी आवश्यकताओं के लिए उठाए गए कदम थे। पाश्चात्य शिक्षा व अन्य सांस्कृतिक कार्यों ने इस प्रकार वैचारिक प्रभुत्व स्थापित करने में मदद की और यही वह सामाजिक और वैचारिक परिप्रेक्ष्य था, जबकि आरंभिक उपनिवेशवाद के दौर में राजनीतिक चिंतन का विकास आरंभ हुआ।

19वीं शताब्दी में ही औपनिवेशिक शासन की एक और भिन्न प्रकार की अवधारणा विकसित हुई जो परंपरागत संस्थाओं व मान्यताओं की प्रशस्ति पर आधारित थी। उदारवादी सिद्धांतों से प्रेरित चिंतन की एक अन्य प्रमुख धारा ने, ब्रिटिश शासन के सकारात्मक पक्षों पर भी ध्यान केंद्रित किया।

राजा राममोहन राय ने ब्रिटिश शासन को शुभ माना और माना कि भविष्य में इसके अच्छे परिणाम निकलेंगे। भारतीय समाज के पतन के कारणों के प्रति इनकी तीव्र आलोचनात्मक दृष्टि के कारण शायद उन्होंने ब्रिटिश शासन और ब्रिटेन जैसे आलोकित/दैदीप्यमान देश से संपर्क की प्रशंसा की थी। केशवचंद सेन ने भी ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन कोई आकस्मिक घटना नहीं था, वरन् दुःखद सामाजिक व नैतिक गिरावट के समय मिला एक ईश्वरीय वरदान था। उनका यह भी मत था कि वह अस्थाई संप्रभु (अंग्रेज) ईश्वर का प्रतिनिधि था, अतः इसकी बगावत न केवल राजनीतिक अपराध है वरन् ईश्वर के प्रति पाप भी है।

रवींद्रनाथ टैगोर, दादाभाई नौरोजी, बी.के. गोखले, एम.जी. रानाडे, चित्तरंजन दास व मोतीलाल नेहरू सभी ने कुछ न कुछ मात्रा में ब्रिटिश शासन से भारत को प्राप्त होने वाले लाभों का गुणगान किया। 1905 में गोखले ने कहा था "देश में अब निर्विघ्न शांति और व्यवस्था है.....।" नौरोजी के मत से कोई भी शिक्षित भारतीय ब्रिटिश शासन की अपेक्षा अन्य किसी शासन को महत्व नहीं देगा।

किंतु औपनिवेशिक दमन और शोषण के कारण ब्रिटिश शासन के प्रति यह धारणा कि यह लाभकारी है, अधिक समय तक बनी नहीं रह सकी। अंग्रेजों के शासन को अब अनावश्यक बुराई माना जाने लगा और 20वीं शताब्दी में उपनिवेशवाद का विरोध राजनीति चिंतन का अभिन्न अंग बन गया।

राष्ट्रवादी और उपनिवेश-विरोधी चिंतकों के विचारों का अध्ययन आप विस्तार से अगले अध्यायों में करेंगे। यहाँ केवल 20वीं शताब्दी में उपनिवेश विरोधी चिंतन की विभिन्न धाराओं की मोटी-मोटी रूपरेखा दी जा सकती है।

कतिपय अंग्रेजी मूल्यों व संस्थाओं की सराहना करते हुए भी उपनिवेश विरोधी राष्ट्रवादी चिंतन की सभी धाराओं में सभी इस बात पर एकमत थे कि औपनिवेशिक शासन अमानवीय व शोषणकारी है। वास्तव में औपनिवेशिक शासन की राष्ट्रवादी अवधारणा के बीज 19वीं शताब्दी के उदारवादी परंपरा में ढूँढ़े जा सकते हैं।

दादाभाई नारौजी ने ब्रिटिश शासकों द्वारा किए गए अस्वाभाविक व्यवहार के कारण उन पर भारत के भौतिक विनाश और उसके "दरिद्रीकरण" का आरोप लगाया। गोखले ने आरोप लगाया कि अंग्रेजों ने एक जाति विशेष के लोगों को सत्ता से अलग रखकर उसके

विकास में बाधा डाली। इसे वे बहुत बड़ी बुराई समझते थे। 20वीं शताब्दी के उदारवादियों ने ब्रिटिश शासन द्वारा लोगों को सभ्य बनाने के कार्य का तो विरोध नहीं किया, फिर भी शक्ति के हस्तांतरण के लिए उन्होंने भी आवाज़ उठायी। तिलक ने औपनिवेशिक शासन के प्रति भविष्य की राष्ट्रवादी अवधारणाओं की कार्यसूची तैयार की।

1920 का दशक उपनिवेश-विरोधी चिंतन में उग्रता प्रदर्शित करने वाला दशक था। महात्मा गाँधी के विचारों और तरीकों के आलोचक, शिक्षित युवाओं के एक वर्ग ब्रिटिश शासन के प्रति विचार बदलने व राजनीतिक संघर्ष के लिए अन्य रास्ते खोजने के प्रयास किये। इसी चिंतन धारा से, क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों का जन्म हुआ। और सुभाष चंद्र बोस और जवाहरलाल नेहरू इस वर्ग के प्रवक्ता बने।

एक अन्य प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व साम्राज्यवादियों और साम्यवादियों ने किया। "कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल" की प्रेरणा व सहयोग से हमारे देश में भारतीय साम्यवादी दल अस्तित्व में आया। उपनिवेशवादी शासन के प्रति इसकी अवधारणा लेनिन की इस मान्यता से कि "साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अंतिम चरण है" तथा 1853 में "न्यूयार्क ट्रिब्यून", में मार्क्स द्वारा भारत पर लिखे गये लेखों पर आधारित थी। एम.एन. रॉय ने "इंडिया इन ट्रांज़िशन" व रजनी पाम दत्त ने "इंडिया टुडे" में भारत के कच्चे माल के दोहन के लिए भारतीय संसाधनों और अर्थव्यवस्था के ब्रिटिश औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण पर बल दिया। एम.एन. रॉय, जो 1920 के दशक में भारतीय साम्यवादियों के प्रतीक थे, ने उपनिवेशवाद-विरोध को विश्व पूँजीवाद के विरुद्ध चल रहे आंदोलन से जोड़ने पर विशेष बल दिया।

कांग्रेस की उग्र सुधारवादी प्रक्रिया से उग्र साम्राज्यवाद का उदय हुआ जिसके परिणामस्वरूप 1934 में "कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी" बनी। कांग्रेसी समाजवादी विचारक, विशेषतः जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेंद्र देव ने समाजवाद और राष्ट्रवाद के संश्लेषण/मिलाने का कार्य किया और समाजवाद को राष्ट्रवाद का उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के लिए इस्तेमाल करने का प्रयास किया।

बोध प्रश्न 1

नोट : 1) उत्तर के लिए नीचे दिए गये खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) उपनिवेशवाद के आरंभिक दौर में आए विभिन्न परिप्रेक्ष्यों का विवेचन कीजिए जिनमें राजनीतिक चिंतन विकसित हुआ।

.....

.....

.....

.....

2.3 पुनर्जागरण और सामाजिक सुधार

भारत में पुनर्जागरण और सामाजिक सुधार आंदोलनों ने उन सदियों पुरानी परंपराओं व रीति-रिवाजों को चुनौती दी जिनके कारण भारतीय समाज बंधनों में जकड़ा हुआ था। जातीय-क्रूरता, बाल-विवाह, सती जैसे ज्वलंत प्रश्न इस प्रकार के सुधारवादी आंदोलनों के विषय बने। मूर्ति-पूजा और अंधविश्वासों का विरोध भी इन सुधारों के प्रमुख लक्षण थे।

2.3.1 धर्म और समाज की विवेकपूर्ण समीक्षा

इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक भारत के आरंभिक विचारक मुख्यतः सामाजिक और धार्मिक मुद्दों तक ही सीमित रहे। राजनीतिक प्रश्नों की ओर उन्होंने या तो ध्यान नहीं दिया या फिर बहुत ही कम। राजा राममोहन राय ने अपनी प्रथम प्रकाशित कृति "तुफ्फत-उल-मुवाहिहदीन" (1803-4) में सामान्य रूप से तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था और उससे जुड़े निहित स्वार्थों की विवेकपूर्ण समीक्षा की। उन्होंने अपने बाद के लेखों में

हिंदुओं की धार्मिक मान्यताओं पाखंडों तथा सती, बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों की भी आलोचना की। उनके मत में सामाजिक सुधार और राजनीतिक आधुनिकीकरण दोनों के लिए ही धार्मिक सुधार अति आवश्यक है। इस तरह, आधुनिक भारतीय चिंतन की शुरुआत तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की बुराईयों के विरोध के फलस्वरूप हुई तथा यह प्रवृत्ति "आधुनिक" समाज के निर्माण के उद्देश्य से बाद के चिंतकों में पाई जाती है।

जैसा कि पहले बताया गया है, राजा राममोहन राय की प्रथम कृति "तुफ्फत-अल-मुबाहिहदीन" में धर्म का तुलनात्मक अध्ययन और धर्म तथा समाज की विवेकपूर्ण समीक्षा की गई है। उन्होंने क्रांति, पैगंबरों, चमत्कारों व समस्त प्रकार के अंधविश्वासों-जैसे नदी में स्नान द्वारा मुक्ति, पेट-पूजा आदि में आस्था की आलोचना की व विवेकपूर्ण व्याख्या और प्रयोग को सत्य के प्रमुख आधार के रूप में स्वीकार करने पर बल दिया। राधाकांत देब और हिंदू कॉलेज के हेनरी डिरोज़ियो ने राजा राममोहन राय पर ब्रिटिश समर्थक होने के आक्षेप लगाए। किंतु वे भी रॉय की "विवेकपूर्ण व्याख्या" के तर्क से सहमत थे। अक्षय कुमार दत्त ने धार्मिक अलौकिकता का खंडन करते हुए यह स्पष्ट किया कि प्रत्येक चीज़ की व्याख्या बुद्धि और विवेकपूर्णता के आधार पर की जा सकती है। इसीलिए बंगाल में ब्रह्मों समाज और अन्य सुधारवादी आंदोलनों ने हिंदु समाज में व्यापक सुधारों के लिए प्रयास ए। सर सैयद अहमद खाँ, रानाडे और अन्य चिंतकों ने भी भारतीय समाज की विवेकपूर्ण व्याख्या का समर्थन किया। ज्योतबा फूले ने जाति-सोपान श्रेष्ठता पर आधारित हिंदू सामाजिक व्यवस्था, के औचित्य को चुनौती दी और समानता के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की आवाज़ उठाई।

राजा राममोहन राय की "तुफ्फत" ने न केवल सत्य के आधार के रूप में विवेकपूर्ण व्याख्या और बुद्धि को स्वीकार किया, वरन् धर्म का तुलनात्मक अध्ययन होने के कारण धार्मिक सार्वभौमवाद और ईश्वरीय एकरूपता व एकेश्वरवाद पर आधारित सर्वसम्मत दृष्टिकोण के विकास में भी योगदान दिया। राममोहन राय ने धर्म की व्याख्या एक ही सार्वभौम सत्ता के विभिन्न रूपों के रूप में की। केशवचंद सेन के विचार में सभी स्थापित धर्म सत्य हैं और सभी सत्य हैं। सर सैयद अहमद खाँ ने सभी धर्मों को एक माना और सभी गुरुओं के प्रवचनों को एक-सार बताया। केशवचन्द्र सेन की "ईश्वर के पितृत्व" की अवधारणा में "मानव का भ्रातृत्व" भी निहित है।

बोध प्रश्न 2

नोट : 1) उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) भारत में 19वीं शताब्दी के आरंभिक दौर के चिंतकों ने अपने समाज और धर्म की समीक्षा के बारे में क्या कहा है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.3.2 धार्मिक पुनरुत्थानवाद

धार्मिक पुनरुत्थानवाद भी सुधारवादी आंदोलन की ही एक प्रवृत्ति थी जो धार्मिक सुधार चाहती थी, किंतु एक प्रमुख कारण से थोड़ी अलग थी। इस प्रवृत्ति में गौरवपूर्ण अतीत (स्वर्ण युग) के प्रति आग्रह है ताकि प्राचीन धर्म की महिमा को बहाल किया जा सके। हिंदु समाज में से ही इसका जन्म होने के कारण, पुनरुत्थानवादियों ने प्राचीन धार्मिक पवित्रता के साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता और लोकतंत्र जैसे कई अन्य आधुनिक मूल्यों को संयुक्त करने का प्रयास किया।

भारत में 19वीं शताब्दी के विभिन्न प्रमुख धार्मिक सुधारवादी आंदोलनों—ब्रह्मों समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन में से आर्य समाज व रामकृष्ण मिशन की ही

वास्तव में अतीत के प्रति आस्था थी। आर्य समाज के "वेदों की ओर लौडो" के नारे तथा रामकृष्ण मिशन के 'वैचारिक हिंदुवाद'–दोनों का धर्म के प्रति दृष्टिकोण काफी भिन्न था, किंतु फिर भी दोनों का बदलते समय के साथ धार्मिक सुधार करने का उद्देश्य एक समान था। कुछ हद तक दोनों ने ही व्यक्ति की स्वतंत्रता, ब्राह्मणवाद और उस जाति व्यवस्था–जिसमें सामाजिक स्तर का निर्धारक एकमात्र जन्म था, में सुधार के प्रयास किए।

इस प्रकार आर्य समाज और इसके प्रणेता स्वामी दयानंद सरस्वती ने ब्राह्मणों की सत्ता का खंडन किया और ईश्वर तथा उसके भक्तों के मध्य किसी भी प्रकार के मध्यस्थ के विचार का विरोध किया। और काफी हद तक उन्होंने व्यक्ति को ब्राह्मणवाद के आतंक से मक्त कराया। आर्य समाज ने अनेकेश्वरवाद तथा तत्संबंधित विधानों और अंधविश्वासों का विरोध किया क्योंकि ये व्यक्तियों को कई वर्गों में बाँट देते हैं।

दूसरी ओर, रामकृष्ण मिशन, जिसने चंडीदास और चैतन्य जैसे संतों से प्रेरणा ली, और जिसका शुभारंभ संत रामकृष्ण ने किया, ने हिंदूवाद, इसके अनेकेश्वरवाद व मूर्ति पूजा को और आदर्श रूप में प्रस्तुत किया। इसके प्रमुख प्रचारक स्वामी विवेकानंद का ध्यान प्रमुख रूप से इस पर था कि भारतीय राष्ट्रवाद को पश्चिम के भ्रष्ट "भौतिक प्रभावों" से लड़ने में सक्षम होना चाहिए। हिंदु समाज में एकता और सुधार इस लक्ष्य की प्राप्ति की पूर्व शर्तें थी।

इस प्रकार उद्देश्यों को लेकर धार्मिक पुनरुत्थानवादी आंदोलनों में वाँछनीय एकता थी। आर्य समाज ने पीढ़ियों से चली आ रही कठोर जाति व्यवस्था का विरोध किया और कर्म, स्वभाव आदि को जाति निधार्रण के मापदंडों में शामिल करने की दलीलें दी। आर्य समाज की दृष्टि में तो शूद्र भी वेद पढ़ सकते थे।

धार्मिक पुनरुत्थान के इसी आह्वान के कारण सैकड़ों राष्ट्रवादी इसकी तरफ आकर्षित हुए और इस प्रकार इसे भारत के राष्ट्रीय जागरण के एक घटक के रूप में स्वीकृति मिली।

2.4 उदारवाद : विभिन्न तत्व

भारत में उदारवाद का एक राजनीतिक विचार के रूप में विकास अंग्रेजी पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग द्वारा किया गया। यह वर्ग औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली की देन थी। अंग्रेजों ने अपने शासन को बनाये रखने के लिए औपनिवेशिक शिक्षा इस उद्देश्य से शुरू की थी कि भारत में सांस्कृतिक व वैचारिक प्रभुत्व स्थापित किया जा सके। इसका उद्देश्य यूरोपीय मूल्यों व संस्थाओं को श्रेष्ठ प्रदर्शित करना और भारत के लिए उसी को आदर्श बनाना था। वे भारत के परंपरागत मूल्यों और संस्थाओं को सामाजिक प्रगति के लिए सहायक नहीं मानते थे।

भारतीय समाज एवं औपनिवेशिक शासन की उदारवादी समीक्षा पुनर्जागरण से आरंभ हुई। राजा राममोहन राय, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, देवेंद्रनाथ ठाकुर, अक्षय कुमारदत्त, ज्योतिबा फूले, गोपाल गणेश अगरकर, एम.जी. रानाडे, दादाभाई नारौजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, सर सैयद अहमद खाँ आदि ने भारतीय समाज व शासन व्यवस्था के कायाकल्प के लिए उदारवादी मॉडल प्रस्तुत किया। भारतीय उदारवादी ब्रिटिश शासन को भारत की सामाजिक राजनीतिक पुनर्संरचना के पथ प्रदर्शक के रूप में मानते थे। जे.एस. मिल और अन्य कई ब्रिटिश उदारवादी औपनिवेशिक शासन का समर्थन इस आधार पर करते थे कि यह शासितों (भारतीय) को प्रगति के मार्ग पर बढ़ाने और उन्हें सभ्य बनाने के लिए आवश्यक है। ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय उदारवादियों का दृष्टिकोण भी यूरोपीय उदारवादियों से बहुत अधिक भिन्न नहीं था।

जो लोग उपनिवेशवाद के शोषणकारी स्वरूप से परिचित थे, उन्होंने भी इसका बहुत अधिक विरोध नहीं किया। ऐसे लोग उपनिवेशवाद के कारण देश की पूँजी के निकास तथा उसके परिणामस्वरूप भारतीयों की निर्धनता और दीन-दशा के प्रश्नों तक ही सीमित रहे। गोपालकृष्ण गोखले, दादाभाई नारोजी जैसे उदारवादियों ने भारतीयों की इस स्थिति के निवारण के लिए प्रार्थना पत्रों और पत्रिकाओं का ही सहारा लिया। किंतु धीरे-धीरे भारतीयों के प्रति ऐसे लोगों की यह चिंता भी शिक्षित मध्यम वर्ग को प्रशासन व्यवस्था में उचित स्थान दिलाने तक ही सीमित रह गयी। दादाभाई नारोजी ने 1880 में एक ज्ञापन में

अंग्रेजों की नैतिकता और मानवता की दुहाई देते हुए कहा था कि वे विश्वविद्यालयों से प्रतिवर्ष डिग्री लेकर निकलने वाले हज़ारों युवाओं की ओर ध्यान दें, जो, अपने आपको अजीब स्थिति में फंसा पाते हैं।

औपनिवेशिक शासन के प्रति लगभग इसी प्रकार की धारणा सर सैयद अहमद खाँ के लेखों में मिलती है। उन्होंने ब्रिटिश शासन को मुक्ति दिलाने वाला, लोकतांत्रिक और प्रगतिवादी माना। उनके लिए ब्रिटिश शासन मुस्लिम समुदाय के हितों की सुरक्षा और हित संवर्द्धन के लिए ज़रूरी था क्योंकि उनके मत से इस्लाम का ब्रिटिश शासन के प्रतीक तत्वों—विवेक और प्रगति से कोई टकराव नहीं हो सकता। उनके विचारों तुलना पुनर्जागरण काल के उन चिंतकों के तर्कों से की जा सकती है, जिन्होंने ब्रिटिश शासन की निरंतरता और औचित्यपूर्ण बताया था। सर सैयद ने सरकार के प्रतिनिधि स्वरूप को लागू किए जाने की संभावना से इनकार किया क्योंकि वे मानते थे कि जब तक भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में जाति, नस्ल आदि के आधार पर भेदभाव विद्यमान है, तब तक निर्वाचन व्यवस्था को ठीक प्रकार से लागू नहीं किया जा सकता। इस तर्क में ज़मीदारों और शिक्षित मध्यम वर्गीय मुस्लिमों के हितों की ही आवाज़ है और मुस्लिम समुदाय के निम्न वर्गों की समस्याओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

इस प्रकार अब आप समझ गये होंगे कि किस प्रकार उपनिवेशवाद और औपनिवेशिक शिक्षा ने भारत में नये सामाजिक वर्गों के उदय की हड़बड़ी मचाई। ऐसे में भारतीय पूँजीपति वर्ग तथा नवीन बुद्धिजीवी वर्ग उदारवादी राजनीतिक विचारों के अगुवा बन गये। ये लोग भारतीय समाज के परंपरागत सामाजिक अभिजनों में से निकले थे। बंगाल के भद्रलोक, मद्रास के ब्राह्मण, बंबई प्रेज़ीडेंसी के ब्राह्मण और प्रभु उदारवादी विचारों के प्रसार से सर्वप्रथम प्रभावित हुए। राजा राममोहन राय (1772-1833), दादाभाई नारोजी (1825-1917), एस.एन. बनर्जी (1848-1925), फिरोजशाह मेहता (1845-1915), गोपालकृष्ण गोखले (1866-1915), गोपाल गणेश अगरकर (1856-1895), महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901), व अन्य कई महापुरुषों ने भारतीय समाज और औपनिवेशिक शासन की उदारवादी समीक्षा विकसित की तथा भारतीय समाज और राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए उदारवादी विचारों के महत्व को रेखांकित किया।

2.4.1 महादेव गोविंद रानाडे

रानाडे प्रभावशाली उदारवादी विचारकों का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने उदीपमान भारतीय पूँजीपति वर्ग का हित संवर्द्धन किया। वे तर्क देते थे कि यदि भारत को अपनी समस्याएँ हल करनी हैं, तो भारतीय अर्थव्यवस्था को विकास के पूँजीवादी मार्ग पर चलना चाहिए। उनका तर्क था कि आर्थिक विकास में राज्य की सक्रिय भूमिका अदा करनी चाहिए। वे राज्य के अहस्तक्षेप की (लेसेज़-फेयर) अवधारणा से असहमत थे। उनका विश्वास था कि औद्योगिकीकरण और कृषि के व्यवसायीकरण द्वारा भारत दरिद्रता और कृषि पर निर्भरता की समस्याओं से मुक्ति पा सकता है और परिवर्तन की इस प्रक्रिया में राज्य को सक्रिय योगदान देना चाहिए। उन्होंने बताया कि किस प्रकार सामंती कृषि व्यवस्था को मज़बूत बनाने और पूँजीवादी संबंधों के प्रचलन एवं कृषक स्वामित्व को अपनाने से फ्रांस, जर्मनी, व रूस में कृषि की तीव्र उन्नति हुई।

फिर भी आर्थिक कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप से संबंधित उनके विचारों का अर्थ यह नहीं है कि राज्य को असीमित शक्तियाँ प्रदान की जायें, क्योंकि व्यक्ति की स्वतंत्रता में भी विश्वास रखते थे। किंतु पश्चिमी उदारवाद के समर्थकों से उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अवधारणा भिन्न प्रकार की थी। इसका उद्गम उनके तत्वभीभांसक विचारों में था, जो स्वयं उपनिषदों पर आधारित थे। उनके विचार से विश्व की प्रत्येक वस्तु में ईश्वर विद्यमान है, अतः प्रत्येक व्यक्ति में भी ईश्वर है। रानाडे मानते थे कि चेतना की स्वतंत्रता वास्तविक स्वतंत्रता है, इसलिए अन्य सभी विचारों से पूर्व चेतना के अधिकारों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। व्यक्ति को स्वयं की अंतःचेतना की आवाज़ पर ध्यान देना चाहिए। किसी बाह्य सत्ता या शक्ति के प्रति नहीं, चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक। लेकिन रानाडे ने यह भी कहा कि व्यक्ति को कार्य करने की स्वतंत्रता का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए कि वह अन्य व्यक्ति की समान स्वतंत्रता पर कोई बंधन न लगाये।

रानाडे अपने उपरोक्त विचारों के कारण ही जाति व्यवस्था के आलोचक थे, क्योंकि यह मानव-व्यवहार पर बाह्य प्रतिबंध आरोपित करती है। इसीलिए उन्होंने भक्ति आंदोलन

का समर्थन किया क्योंकि उनका यह विचार था कि संत लोग जन्म भेद को भुलाकर मानव आत्मा की गरिमा में विश्वास करते हैं।

रानाडे का विचार था कि अभिजन वर्ग ही सामाजिक परिवर्तन और सुधार ला सकता है। उनके मत से–"..... हमेशा ही व्यक्तियों का एक ऐसा अल्पवर्ग होता है, जो शक्ति के समस्त तत्वों पर अपना नियंत्रण रखता है। यह वर्ग सामाजिक और धार्मिक रूप से अग्रणी और बुद्धिजीवी होता है तथा उसके पास संपत्ति, ज्ञान और शक्ति होती है। इस वर्ग में ब्राह्मण, वैश्य, ज़मींदार और शिक्षित मध्यम वर्ग आते हैं।" इस प्रकार पूँजीपति वर्ग की आकांक्षाओं के अनुरूप उनका भी विश्वास था कि "शक्ति का निवास वहाँ होना चाहिए जहाँ बुद्धि और पूँजी का निवास है।" भारतीयों को प्रतिनिधित्व देने की रानाडे की योजना में राजनीतिक शक्ति समृद्ध और शिक्षित लोगों को देने का प्रावधान था। उनके विचार में जब तक जनता समृद्ध लोगों को चुनने में अक्षम है, तब तक उनकी योजना पर अमल किया जाए। लोगों को इस योग्य बनाने से पूर्व उन्हें प्रशिक्षित और शिक्षित करना आवश्यक है।

2.4.2 ज्योतिबा फुले और बी.आर. अम्बेडकर

इसके विपरीत, ज्योतिबा फुले (1827-90) और बी.आर. अम्बेडकर (1891-1956) ने उदारवादी विचारधारा का दूसरा ध्रुव प्रस्तुत किया। फुले पर थॉमस पेन के क्रांतिकारी उदारवाद का महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। उन्होंने सदैव सभी स्त्री एवं पुरुषों की जन्मजात समानता एवं स्वतंत्रता का समर्थन किया। फुले का मानना था कि चूँकि ईश्वर ने ही उन्हें ऐसा बनाया है, इसलिए किसी को दूसरों का दमन नहीं करना चाहिए। अतः सभी को विधि के सम्मुख समान समझा जाना चाहिए तथा असैनिक सेवाओं तथा नगरीय प्रशासन में प्रवेश के अवसर सभी को समान रूप से मिलने चाहिए।

इसलिए रानाडे की उच्च जाति की राजनीति तथा विकासशील पूँजीवाद की रणनीति का ज्योतिबा के लिए अर्थहीन होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर, फुले का मुख्य आग्रह दलित वर्ण-शूद्रों व आदि शूद्रों को "जातिगत गुलामी" से मुक्ति दिलाने पर था। उन्होंने हिंदू/ब्राह्मणवादी मिथक तथा क्रूर एवं अमानवीय जाति नियमों, जो सवर्णों के पक्ष में थे, की संपूर्ण व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया था। फुले को इन लोगों की दशा में जो सुधार नज़र आता था उसे वे ब्रिटिश शासन का परिणाम मानते थे। रानाडे के विपरीत, फुले जनता को शिक्षा देने के पक्षधर थे और अंग्रेजों द्वारा उच्च शिक्षा पर अधिक राशि आबंटित/व्यय करने के खिलाफ थे–क्योंकि उच्च शिक्षा उनके लिए कम महत्त्व रखती थी।

अम्बेडकर की अछूतोद्धार की धारणा का मूल आधार उन्हें शिक्षित करना था। शिक्षा का अर्थ उनके लिए मात्र साक्षरता नहीं था, वरन् उच्च शिक्षा भी था। उनके अनुसार अछूतों में आत्म सम्मान की भावना होनी चाहिए, तथा उन्हें पारम्परिक अछूत कार्यों को करने से इनकार करना चाहिए और रूढ़िवादी अस्पृश्यता के बंधनों को भी तोड़ना चाहिए। अछूतों का शासन के सभी स्तरों पर उनके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिनिधित्व भी होना चाहिए। अम्बेडकर मानते थे कि अछूतों को अपना नेतृत्व स्वयं करना चाहिए, अर्थात् उन्हें स्वयं अपने में से नेता बनाने चाहिए।

दलित वर्ग को उनका देय सम्मान दिलाने पर उन्होंने ज़ोर दिया कि सरकार अपने सभी लोगों के कल्याण की जिम्मेदारी स्वयं पर ले तथा जिन्हें शिक्षा तथा व्यवसायिक अवसरों से वंचित रखा गया है, उनके लिए विशेषाधिकार बनाए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने एक ऐसी मज़बूत केंद्रीय सरकार की कल्पना की, जो सभी लोगों के कल्याण के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हो। इस प्रकार, फुले और अम्बेडकर के उदारवाद ने (एक क्रमिक अंतराल के बावजूद) अभिजनवर्गीय उदारवाद को एक सुरसंगति प्रदान की।

बोध प्रश्न 3

नोट : 1) उत्तर हेतु खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से जाँच करें।

1) भारतीय राष्ट्रवाद के उदारवादी तत्वों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्न कथनों पर सही/गलत का निशान लगाएँ।

i) भारत में उदारवाद मुख्यत: औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली की देन था। (सही/गलत)

ii) अक्षम कुमार दत्त और सुरेंद्र नाथ बनर्जी भारतीय राष्ट्रवाद की उदारवादी परंपरा से संबद्ध नहीं थे। (सही/गलत)

iii) रानाडे का मत था कि भारत को अपनी मुक्ति के लिए विकास का पूँजीवादी तरीका अपनाना चाहिए। (सही/गलत)

iv) ज्योतिबा फुले मुख्यता/चैतन्य महाप्रभु से प्रभावित थे। (सही/गलत)

2.5 राष्ट्रवाद

आरंभ से ही राष्ट्रवाद विचारधारा जटिल मार्ग से होकर विकसित हुई। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति आदर भाव दादाभाई नारौजी ने 1885 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में असाधारण रूप से निम्न शब्दों में व्यक्त किया था—"जो बात हमें अंग्रेजों ने अधीन होने में गौरव अनुभव करवाती है और जो हमें इस विदेशी शासन के प्रति स्वामिभक्ति से जोड़ती है..... वह यह तथ्य है कि ब्रिटेन स्वतंत्र और प्रतिनिधि सरकार की जननी है.....।" जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि, प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेताओं और बुद्धिजीवियों के बीच कमोबेश मात्रा में यही विचार प्रमुख था। उन्होंने महसूस किया कि भारतीयों की आर्थिक बर्बादी और दुर्दशा ब्रिटिश शासन का परिणाम थी। दादाभाई नारौजी के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था के संसाधनों का ज़बर्दस्त दोहन किया गया था। ऐसा उनके ही शब्दों में भारत में "गैर-ब्रिटिश" शासन का (अन-ब्रिटिश रूल) का परिणाम था। रानाडे का "दोहन सिद्धांत" में यकीन नहीं था। वस्तुत: उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था की आलोचना ब्रिटिश शासन से असंबद्ध कारकों के आधार पर की थी, जैसे—कृषि पर निर्भरता, पूँजी का अभाव पुरातन ऋण व्यवस्था आदि। इसलिए उन्होंने कृषि और उद्योगों के व्यवसायीकरण की वकालत की।

दरअसल स्वशासन की अवधारणा का विकास तो अरबिंदो घोष तथा एस.एन. बनर्जी ने बाद में किया। इस तरह का विचार, पूर्ववर्ती राष्ट्रवादियों की कार्यसूची में कभी नहीं रहा था। जैसा कि हमने देखा, उनका प्रमुख आग्रह सुधारों पर था। वस्तुत: विवाद का प्रश्न केवल यही था कि सामाजिक सुधारों से पहले राजनीतिक सुधार हों या राजनीतिक सुधारों से पहले सामाजिक सुधार हों। बनर्जी का विचार था कि स्वशासन प्रशासनिक दक्षता बढ़ाएगा। इसके अतिरिक्त, उसका विश्वास था कि भारत का ध्येय मानवजाति का आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक बनना है, और यह स्वतंत्र भारत के बिना संभव नहीं था। अरबिंदो घोष की यह मान्यता थी कि विदेशी सरकार (अपनी प्रकृति के अनुरूप ही) व्यक्ति को आत्म-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दे ही नहीं सकती। उन्होंने स्वशासन को पूर्णता तथा राष्ट्र-शक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक माना। उनके अनुसार राष्ट्रवाद एक धर्म है, जो ईश्वर से मिला है।

बाद के उत्तरवर्ती राष्ट्रवादियों अर्थात् "उग्र राष्ट्रवादियों" ने स्वराज का आह्वान किया, यद्यपि वे अभी भी स्वराज को अंग्रेज़ी साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन के रूप में ही समझते थे। तिलक ने देश के "आर्थिक दोहन" की धारणा को पुन: उठाया, जिसे वे विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के कारण बंद हुए भारतीय उद्योग के पुनरुत्थान के साथ-साथ तुरंत प्रभाव से बंद कराना चाहते थे। बाल गंगाधर तिलक, अरबिंदो घोष तथा बी.सी. पाल के नेतृत्व में उग्र राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश सामान के बहिष्कार तथा सत्याग्रह जैसे सीधे तरीकों की पैरवी की और औपनिवेशिक शासन की भर्त्सना करते हुए "स्वदेशी" का आह्वान किया।

औपनिवेशिक शासन के उदारवादी यशोगान की प्रतिक्रिया में उन्होंने प्राचीन भारत की उपलब्धियों पर ज़ोर दिया। राष्ट्रवादी राजनैतिक चेतना की चुनौती का सामना करने के लिए औपनिवेशिक शासकों ने 1892, 1909 तथा भारत शासन अधिनियम 1919 के सुधारों के माध्यम से विधायिका में निर्वाचन के तत्व शामिल किए। हालाँकि उग्र राष्ट्रवादियों ने इन सुधारों का विरोध किया, लेकिन कुल मिलाकर आरंभ में मुख्यत: इनका स्वागत ही हुआ। बाद में गाँधी जी, जिन्होंने आरंभ में सुधारों को लागू करने में सहयोग देने का समर्थन किया था, ने भी 1921 में अपने विचार बदल लिये थे और उन्होंने भी सुधारों को "भारतीय संपदा के और अधिक दोहन करने तथा गुलामी को और बढ़ाने का ही एक तरीका बताया। 1920 के दशक के आरंभ में राष्ट्रीय स्तर के प्रथम राष्ट्रवादी आंदोलन–असहयोग आंदोलन–के बाद से देश में उपनिवेश विरोधी विचारधारा प्रबल रूप से ज़ोर पकड़ने लगी थी। कांग्रेस की वामपंथी शाखा ने साम्राज्यवाद के विरोध में ज़ोरदार प्रचार अभियान शुरू किया तथा बिना शर्त राष्ट्रवादी शासन की वकालत की, ताकि देश का राजनैतिक और प्रशासनिक एकीकरण किया जा सके और राजनैतिक चेतना जागृत हो। उन्होंने ज्ञान के पश्चिमी मूल्यों को मान्यता देने के लिए धर्म, रंग, जाति, संप्रदाय तथा लिंग आदि की बाधाओं को तोड़कर एक राष्ट्रीय आंदोलन की आवश्यकता प्रतिपादित की। राजनैतिक संघटन के लिए उन्होंने क्षेत्रीय तथा धार्मिक प्रतीकों की वकालत की। गाँधी जी की स्वराज्य, स्वदेशी तथा बहिष्कार (विदेशी वस्तुओं का) आदि धारणाओं ने उपनिवेश-विरोधी संघर्ष का मार्ग प्रशस्त किया।

अत: यह कहा जा सकता है कि जिसे हम भारतीय राष्ट्रवाद कहते हैं, इसमें अनगिनत विचारधाराएँ सम्मिलित हैं।

भारत में राष्ट्रवाद की प्रथम अनुभूति धार्मिक पुनरुत्थान के तीव्र भाव से जुड़ी हुई थी, जिसमें भूतकाल के लिए एक अपील थी और हिंदु स्वर्ण युग की पुरातन महिमा को पुन: प्रतिष्ठित करने का एक धर्मोत्साही आह्वान था।

मध्यवर्गीय राष्ट्रवादियों का उपनिवेशवाद से मुख्य विरोध, ब्रिटिश शासन के आर्थिक प्रभाव या उसके नौकरशाही पहलू तक ही सीमित था। इन मध्यमार्गी राष्ट्रवादियों के तरीके संविधानवादी थे, तथा ये अपील एवं याचिकाएँ देने तक ही सीमित रहते थे।

दूसरी ओर, उग्र राष्ट्रवादियों ने, भारतीय जनता तथा औपनिवेशिक शासन के बीच विरोधाभास को अच्छी तरह समझा और औपनिवेशिक शासन से और अधिक निर्णायक रूप से छुटकारा पाने की वकालत की। लेकिन वे पूर्णत: धर्म से अनुप्राणित थे, तथा धार्मिक समारोहों आयोजनों का उपयोग जनता को सक्रिय बनाने के लिए करते थे। इस प्रकार के राष्ट्रवाद की अत्यधिक धार्मिकता ने मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से दूर कर दिया।

ये उग्र राष्ट्रवादी इटली के पुनर्जागरण के इतिहास तथा मेज़िनी के जीवनवृत्त से गहरी प्रेरणा लेते थे।

राष्ट्रवादियों की तीसरी धारा अर्थात् क्रांतिकारी राष्ट्रवादी भी मुख्यत: वैचारिक रूप से पुनरुत्थावादी ही थी। जिनका स्वराज में यकीन था और जो इसे किसी भी माध्यम से हासिल करना चाहते थे। जिसमें क्रांतिकारी हिंसा भी सम्मिलित थी। रूसी नारोदिकों से लेकर मैज़िनी तक उनके मुख्य प्रेरणा स्रोत थे।

अंत में, विभिन्न समाजवादी धाराओं की देन भारतीय राष्ट्रवाद की उग्र शाखा थी। इनके बारे में आप अगले अध्याय में पढ़ेंगे।

2.6 समाजवाद

असहयोग आंदोलन के बाद समाजवादी विचारधारा का तेजी से प्रसार हुआ और बहुत से समाजवादी तथा साम्यवादी समूह उभर कर सामने आए थे। 1920 के दशक में उग्र राजनीति के विकास के प्रमुख कारक थे। राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाले युवकों और कठिन जीवन-यापन करने वाली जनता की परेशानियाँ बढ़ रही थीं। यह अकेले गाँधी जी का ही योगदान था कि उन्होंने कांग्रेस के नेतृत्व वाले आंदोलन को एक व्यापक जन-आंदोलन में बदल दिया। गाँधी जी के अहिंसा पर अत्यधिक जोर देन तथा

औपनिवेशिक सरकार की क्रूर-दमन की कार्यवाहियों, यथा जलियाँवाला बाग का नरसंहार आदि के अलावा असहयोग आंदोलन चौरी-चौरा कांड, जिसमें अंग्रेजों द्वारा नियंत्रित एक पुलिस थाने को किसानों की एक उग्र भीड़ ने आग लगा दी थी, के कारण वापस लेने से जनता का बड़े पैमाने पर मोह-भंग हुआ। धीरे-धीरे यह महसूस किया जाने लगा कि अहिंसक तरीके से कामयाब नहीं होंगे। इस प्रकार विकल्पों की खोज आवश्यक बन गयी।

यह खोज निर्णायक रूप से एक अन्य वजह से भी की जा रही थी और यह वजह रूसी क्रांति की विजय तथा वहाँ एक समाजवादी राज्य की स्थापना थी। भारत में पहला समाजवादी साप्ताहिक "**द सोशलिस्ट**" 1923 में बंबई में एस.ए. डांगे ने प्रारंभ किया। बंगाल में दृढ़ निश्चयी संगठनों के एक समूह ने मुजफ्फर अहमद के नेतृत्व में साम्यवादी दल की आधारशिला रखना आरंभ किया। इससे पूर्व एक क्रांतिकारी राष्ट्रवादी एम.एन. राय ने, जो हथियारों की खोज में अमरीका गए थे, समाजवाद स्वीकार कर लिया था। 1921 में उन्होंने मुहाजिरों के गुट के साथ मिलकर ताशकंद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की, जो कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से संबद्ध हुई। मुहाजिर वे लोग थे जिन्होंने स्वेच्छा से किसी दूसरे देश में निर्वासित जीवन व्यतीत करने की इस्लामिक परंपरा 'हिजरत' से अपना देश छोड़ा था। सन् 1924 में बहुत से लोगों को डांगे और मुजफ्फर अहमद सहित कानपुर षड्यंत्र कांड में गिरफ्तार कर लिया गया। बंबई, बंगाल और पंजाब में श्रमिकों और किसानों ने अपने दल बनाए। उन्होंने श्रमिकों और किसानों की आर्थिक और राजनैतिक मांगों का समर्थन किया तथा उन्हें वर्ग के आधार पर संगठित किया। उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए कार्यक्रम बनाए और उन्हें क्रियान्वित भी किया तथा किसानों और श्रमिकों द्वारा सीधी कार्यवाही का समर्थन किया। ट्रेड यूनियनों (श्रमिक संगठनों) का गठन किया गया तथा बहुत सी हड़तालें हुई।

इसके साथ-साथ क्रांतिकारी आतंकवाद का समाजवाद में विकास होता गया। भगत सिंह और उनकी 'हिदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' ने इस विकास का प्रतिनिधित्व किया।

2.6.1 क्रांतिकारी समाजवाद

नवयुवकों को सामाजिक मामलों में शिक्षित करने, स्वदेशी को लोकप्रिय बनाने तथा भ्रातृत्व भाव का विकास करने के उद्देश्य से सन् 1926 में 'नौजवान भारत सभा' की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त यह सभा युवकों में एक धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण, यहाँ तक कि निरीश्वरवाद की भावना विकसित करना चाहती थी। यह संगठन 'हिदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' का पूर्ववर्ती, था, जिसका उद्देश्य बगावत करके अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकना था। इसकी गुप्त गतिविधियों के संचालन के लिए इनका विस्तृत संगठन था। सभा ने समानता, गरीबी उन्मूलन तथा संपत्ति के न्यायसंगत वितरण जैसे आदर्शों का प्रचार किया। इसी हिदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन ने बाद में अपना नाम बदलकर 'हिदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' रख लिया था।

ब्रिटिश सरकार ने श्रमिक वर्ग के आंदोलन को दबाने के लिए जब "जन सुरक्षा विधेयक" तथा "व्यापार विवाद विधेयक" प्रस्तुत करना चाहा तो हिदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन ने असेंबली में बिल पेश होने पर बम फेंक कर विरोध व्यक्त करने का निश्चय किया। यह कार्य भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने संपन्न किया। हालाँकि हि.सो.रि.एसो. की इस प्रकार की बहुत सी कार्यवाहियाँ, सतही तौर पर तो पारंपरिक आतंकवादी गतिविधियाँ लगती है, फिर भी नौजवान भारत सभा ने एक वृहत्तर उद्देश्य से कार्य किया था। भगत सिंह ने अपने मुकद्दमे के दौरान स्पष्ट किया कि उनकी दृष्टि में क्रांति का अर्थ बमों और बंदूकों के राज से नहीं है बल्कि उसका उद्देश्य समाज का पूर्ण परिवर्तन था, जिसमें भारतीय और विदेशी पूँजीवाद को उखाड़ फेंक कर सर्वहारा वर्ग के हाथों में संपूर्ण सत्ता केंद्रित हो। असेम्बली बम फेंकने का उद्देश्य पूर्णतः एक प्रदर्शन था, ताकि शासन को अपना नज़रिया समझाया जा सके।

राजनैतिक आंदोलन के उपयुक्त तरीकों की खोज में हि.सो.रि.एसो. की गतिविधियों का आंतकवाद से उक्त समाजवाद की ओर संक्रमण को परिलक्षित होता है।

2.6.2 मार्क्सवादी समाजवाद

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारत में मार्क्सवादी समाजवाद की पहली शुरुआत

बंगाल, बंबई तथा पंजाब में छोटे-छोटे समूहों द्वारा की गयी। इन्हीं समूहों ने बाद में इन राज्यों में श्रमिकों तथा किसानों के दलों का गठन किया, श्रमिक संगठनों का कार्य प्रारंभ किया तथा किसानों को संगठित करना शुरू किया। ताशकंद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन इन्हीं गतिविधियों के समानांतर था।

भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा उपनिवेशवाद की आलोचना इस तथ्य पर आधारित थी कि साम्राज्यवादी भारत के कच्चे माल को लूट रहे हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा भारतीय जनता विशेषत: श्रमिक वर्ग तथा किसानों को शोषण तब तक जारी रहेगा, जब तक भारत उपनिवेशवाद से पूर्णत: अलग नहीं हो जाता तथा शोषण से मुक्त समाज की रचना नहीं हो जाती। भारतीय किसानों की अत्यधिक गरीबी तथा अभावग्रस्तता के लिए साम्यवादियों ने भारतीय तथा विदेशी पूँजी एवं शोषण के पुरातन सामंती तरीकों को जिम्मेदार माना।

इस प्रकार साम्यवादियों ने राष्ट्रवादी नेतृत्व का इसलिए उपहास उड़ाया कि वे ब्रिटिश शासकों में विश्वास रखते हैं तथा पूर्ण स्वराज्य की माँग को उठाने में हिचकिचाहट करते हैं। वे राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा राजनैतिक लाभबंदी के लिए धर्म के प्रयोग के भी सख्त खिलाफ थे।

फिर भी, साम्यवादी स्वयं 1936 के दशक के मध्य तक राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा से नहीं जुड़ पाए थे।

एम.एन. राय ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की तीसरी कांग्रेस में लेनिन के साथ अपने प्रसिद्ध वाद-विवाद में यह मान्यता प्रकट की कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व प्रतिक्रियावादी है। इसलिए साम्यवादियों को उनके साथ किसी भी प्रकार से सहयोग नहीं करना चाहिए। यह नीति साम्यवादी आंदोलन को भारतीय राजनीति की मुख्य धारा से अलग-अलग कर देती। इसके विपरीत लेनिन ने साम्राज्वाद के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने की वकालत की थी। सातवीं कांग्रेस के बाद 1935 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने संयुक्त मोर्चा नीति को अंगीकार कर लिया, दो ब्रिटिश नेताओं एवं श्री आर.पी. दत्त एवं बेन ब्रेडले ने भारतीय कम्युनिस्टों के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया। यह दस्तावेज जिसे "दत्त-ब्रेडले थीसिस" कहते हैं, भारतीय साम्यवाद के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना हैं, क्योंकि इससे भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की मुख्य धारा में मिल गयी। इस दस्तावेज में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को राष्ट्रीय आंदोलन से अपने संबंधों की पुनर्रचना में सहायता दी। इसके उपरांत जनवरी, 1936 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने अपने महासचिव श्री जयप्रकाश नारायण की सिफारिश पर साम्यवादियों को अपनी सदस्यता के योग्य मान लिया। तब बहुत से साम्यवादी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गए। तभी से द्वितीय विश्व युद्ध तक साम्यवादियों और कांग्रेसी समाजवादियों ने अपने मतभेदों के बावजूद मिलकर कांग्रेस में रहकर ही उसके आमूल परिवर्तन पर जोर दिया।

साम्यवादी विचारधारा का एक महत्वपूर्ण पहलू उसके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व के संदर्भ में, इसके वर्ग चरित्र तथा बाद में भारतीय राज्य के वर्ग चरित्र की समीक्षा के संबंध में रहा। वे कांग्रेस को भारतीय पूँजीपतियों और जमींदारों का संगठन मानते थे, जिसे गाँधी जी ने एक उच्चवर्गीय सभा से जन-आंदोलन में बदल दिया था। हालाँकि कांग्रेस को जन-आंदोलन में बदलने की प्रक्रिया गाँधी जी ने प्रारंभ की थी, परंतु वे उन्हें समझौतावादी मानते थे क्योंकि वे उनकी नज़र में राष्ट्रीय संघर्ष के बढ़ते उग्रवाद को रोकने के लिए दृढ़निश्चयी थे। वे गाँधी जी के अहिंसक तरीकों तथा राजनैतिक लाभबंदी के लिए धार्मिक प्रतीकों के उपयोग को अनुचित समझते थे।

2.6.3 कांग्रेसी सामाजवाद

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 1920 के दशक में भारतीय युवा मन में आमूल परिवर्तन देखा गया और वह कांग्रेस की अपेक्षा समाजवादी विचारधारा की ओर उन्मुख होने लगा। गाँधी जी के अहिंसात्मक तरीकों से मोहभंग, रूसी क्रांति का प्रभाव तथा उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष में भारतीय समाज के सर्वहारा वर्ग को शामिल करने की आवश्यकता ने इस आमूल परिवर्तन को जन्म दिया।

इस सबके समानांतर युवा कांग्रेसजन धीरे-धीरे समाजवादी विचारधारा को अपनाने लगे तथा उन्होंने कांग्रेस में रहते हुए ही इसे वामपंथी दिशा देने का प्रयास किया। उन्होंने 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। आचार्य नरेंद्र देव तथा श्री जयप्रकाश

नारायण इनमें प्रमुख थे। ये दोनों नेता मार्क्सवाद से अत्यधिक प्रभावित थे तथा उनकी मान्यता थी कि समाजवाद केवल उत्पादन के साधनों के सामाजिकरण द्वारा ही लाया जा सकता है। दोनों ही कृषकों के पक्ष में कृषि अर्थव्यवस्था तथा भूमि के व्यापक पुनर्गठन के पक्षधर थे।

लेकिन, आचार्य नरेंद्र देव तथा जय प्रकाश नारायण, विकेन्द्रिकृत सहकारी कृषि के पक्षधर होने के कारण साम्यवादियों से अलग थे। दोनों का समाजवाद में विश्वास था। लेकिन उनकी इसे मानवीयता से जोड़ने की इच्छा थी।

इसी समूह के एक अन्य नेता राम मनोहर लोहिया ने समाजवादी विचाधारा में गाँधी जी के विचारों का अधिक महत्व के साथ समावेश करने का प्रयास किया।

गाँधीवादी विचारों के प्रति लोहिया का आग्रह केवल गाँधीवादी नीतियों के समावेशन तक ही सीमित नहीं था, अपितु समाजवाद के आर्थिक पक्ष पर भी उनका आग्रह था। उन्होंने कुटीर उद्योगों के पुनर्जीवन पर आधारित विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था की वकालत की। इस प्रकार उनका समाजवाद लघु उत्पादक का समाजवाद था।

लोहिया का विश्वास था कि जाति और वर्ग का आंतरिक पक्ष ही भारतीय ऐतिहासिक गत्यात्मकता को समझने की कुंजी है। उनके विचार से, मानव इतिहास जाति और वर्गों के बीच की आंतरिक गतिविधियों का परिणाम है—जातियाँ टूटकर वर्गों में बदल जाती हैं तथा वर्ग क्रिस्टलीकृत होकर जातियाँ बनाते हैं। इस प्रकार उन्होंने जाति/वर्ग गत्यात्मकता को समझने का प्रयास किया—अन्यथा यह मुद्दा भारतीय राजनीति में साधारणतः उपेक्षित ही रहा है।

बोध प्रश्न 4

नोट : 1) अपने उत्तर हेतु रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर का अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से मिलान कीजिए।

1) भारत में मार्क्सवादी समाजवाद के उदय पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.7 सर्वोदय और अराजकतावाद

महात्मा गाँधी के राजनैतिक दर्शन ने जो उनकी राजनैतिक गतिविधियों के दौरान विकसित हुआ, विचारों की पूर्व शृंखला के साथ आवश्यक निरंतरता बनाए रखी। राजनीति के प्रति भारतीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण, जिसे स्वामी विवेकानंद एवं अरबिंद घोष ने विकसित किया, गाँधी जी के विचारों में भी सतत् अभिव्यक्त हुआ। 1909 में हिंद स्वराज में उन्होंने समाज और राज्य तथा भारत और पश्चिम में आधारभूत अंतर स्वीकार किया। उन्होंने भारतीय आध्यात्मिकता का गुणगान किया एवं उसकी यूरोपीय राज्य की हिंसक और राजनैतिक रूप से भ्रष्ट प्रकृति से तुलना की। उनकी अंग्रेजी संसदीय प्रणाली के प्रति टिप्पणी संयमित थी। उन्होंने सभी पश्चिमी राजनैतिक शक्तियों को क्रूर बल में व्याख्या की। अतः उनका राजनीति में भाग लेना खेदसूचक ही था। उन्होंने कहा भी था, "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हुआ दिखता हूँ तो सिर्फ इसलिए कि राजनीति ने हमें आज साँप की कुंडली की तरह जकड़ रखा है,..... अतः मेरी इच्छा इस साँप से लड़ने की है।"

राजनीति के प्रति इस दृष्टिकोण के कारण गाँधी जी के लिए राज्य की वीभत्स होना तर्कसंगत लगता था। इस अर्थ में, गाँधीवाद तथा सर्वोदय के लक्षण अराजकतावादी विचारधारा से काफी मिलते हुए दिखाई पड़ते थे।

विवेकानंद की भाँति गाँधी जी का विश्वास था कि यदि लोगों को अपने हितों की रक्षा तथा उनकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाए तो वे धीरे-धीरे अपनी आध्यात्मिक एकात्मकता के भाग के रूप में अपने हितों को खोज लेंगे।

उनका विश्वास था कि इसने एक ऐसी मानव प्रकृति को बढ़ावा दिया जो कि अनिवार्य रूप से समायोजन एवं समझौता पसंद थी। इस प्रकार एक हद तक उन्होंने अराजकतावादी क्रोपोट्रिकन एवं टॉलस्टाय की ही भाँति राज्य को व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा सामाजिक सद्भाव की प्राप्ति में मुख्य बाधा माना। "राज्य केंद्रित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है।" उन्होंने इसे एक आत्मारहित मशीन की तरह माना जिससे हिंसा को कभी अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए उनके आदर्श समाज में कोई राज्य–राजनैतिक सत्ता नहीं थी क्योंकि उन्होंने राज्य में केंद्रीकरण की मूल प्रवृत्ति देखी, जो वैभक्तिकता को कम करती है। उनकी मान्यता थी कि यदि भारत को अहिंसा के राह पर चलना है तो उसे विकेंद्रीकरण करना होगा।"

गाँधी जी के बाद, विनोबा भावे ने सर्वोदय विचारधारा के शीर्ष प्रवक्ता के रूप में इस विचार को सुस्पष्ट किया। विनोबा ने मानव जीवन के सभी पहलुओं को बदल देने वाली समग्र क्रांति की कल्पना की। उनका लक्ष्य एक "नएं मानव की रचना करना..... मनुष्य जीवन को बदलना और एक नये विश्व का निर्माण था।" अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी भारतीय समाज किसी भी प्रकार सर्वोदय के निकट नहीं आया, इसकी मुख्य बाधा केंद्रीकृत सरकार थी। "सर्वोदय से उनका तात्पर्य, एक अच्छी सरकार अथवा बहुमत के शासन से नहीं था। इसका मतलब तो सरकार से स्वतंत्रता और, सत्ता के विकेंद्रीकरण" से था।

विनोबा के सत्ता व राजनीति के सिद्धांत के केंद्र में **लोक नीति** एवं **राजनीति** के बीच भेद था। लोकनीति "नागरिकों में अंतर्निहित शक्तियों" का उपयोग करने का प्रयास करती है और राजनीतिक दलों तथा चुनावों पर प्रतिबंध लगा देगी, सर्वसम्मति से निर्णय लेगी, और अपने हितों की पहचान कायम करेगी, जिससे समाज में सौहार्द कायम रह सकेगा।

बाद में, जयप्रकाश नारायण ने गाँधीवादी सर्वोदयी राजनीति के विचार को आगे बढ़ाया। राष्ट्रीय नेता के रूप में जे.पी. मुख्यतः भारत में राजनैतिक सत्ता के दुरुपयोग के प्रति चिंतित रहे, और इस प्रकार उनका निरंतर कांग्रेस से विरोध बना रहा। वे स्वयं सत्ता के विकेंद्रीकरण के प्रबल पक्षधर थे, तथा उन्होंने ही दल रहित राजनीति के विचार का प्रचार-प्रसार किया।

बोध प्रश्न 5

नोट : 1) उत्तर के लिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की अध्याय के अंत में दिए गये उत्तर से जाँच कीजिए।

1) महात्मा गाँधी के सर्वोदय दर्शन पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

i) गाँधी के सर्वोदय-दर्शन पर प्रकाश डालने वाली महत्वपूर्ण प्रकाशित कृति..... थी।

ii) गाँधीवाद और अराजकतावाद दोनों के बीच घृणा का केंद्र..... था।

iii) सत्ता के विकेंद्रीकरण के बारे में सर्वोदय का मत का श्रेय..... को जाता है .....।

iv) विनोबा ने राजनीति और..... के बीच भेद किया।

2.8 सारांश

इस अध्याय में आपने उन प्रमुख मुद्दों और दृष्टिकोणों का अध्ययन किया, जिन्हें आधुनिक राजनैतिक चिंतन के रूप में जाना जाता है। आपने उन विभिन्न परिप्रेक्ष्यों का भी अध्ययन किया जिनमें आधुनिक काल में भारतीय चिंतन उदित हुआ। आपने आधुनिक भारतीय चिंतन के विभिन्न तत्वों का भी अध्ययन किया, जैसे—उदारवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद और सर्वोदय। अब आशा की जा सकती है कि इनके अध्ययन से आपको आज के समय में घटित हो रही घटनाओं को समझ पाने में मदद मिलेगी।

2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चंद्रा विपन : *नैश्नलिज़्म एंड कौलोनियलिज़्म* ओरियंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1979

वर्मा वी.पी. : *मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट*

सरकार, सुति : *मॉडर्न इंडिया, 1885-1947*, मद्रास, मैकमिलन, 1985

पंथम टी. एंड डौयश कै. नेथ एल (संपा) *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, 1986

2.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
भाग 2.1 और 2.2 देखिए

बोध प्रश्न 2
1) भाग 2.3 और उपभाग 2.3.1 देखिए

बोध प्रश्न 3
1) भाग 2.4 और उपभाग 2.4.1 व 2.4.2 देखिए
2) i) सही
   ii) गलत
   iii) सही
   iv) गलत

बोध प्रश्न 4
1) उपभाग 2.7.3 देखिए

बोध प्रश्न 5
1) भाग 2.7 और उपभाग 2.7.3 देखिए

बोध प्रश्न 6
1) भाग 2.8 देखिए
2) i) हिंदस्वराज
   ii) राज्य
   iii) विनोबा
   iv) लोकनीति